वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक १ जनवरी २०१०
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

|| सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।। ||
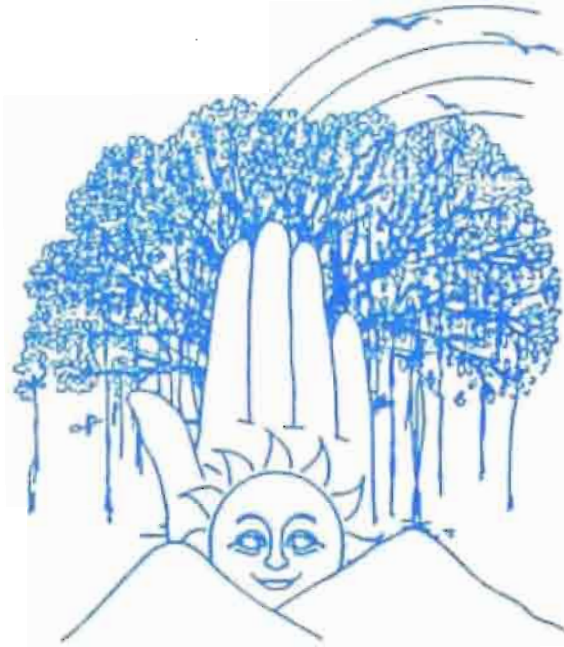
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ११ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ६०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २७५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १२००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४८ जनवरी २०१० अंक १

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

अभावना वा विपरीतभावनाऽ-
सम्भावना विप्रतिपत्तिरस्याः ।
संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं
विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ।।११५।।

अन्वय – अस्याः संसर्ग-युक्तम् अभावना न विमुञ्चति । विपरीतभावना वा असत् भावना विप्रतिपत्तिः (न विमुञ्चति) । विक्षेप-शक्तिः ध्रुवम् अजस्रम् क्षपयति ।

अर्थ – माया की इस आवरण शक्ति से जुड़े हुए व्यक्ति को अभावना (अज्ञान) त्याग नहीं करता; विपरीत ज्ञान, अविश्वास तथा संशय त्याग नहीं करता । विक्षेप-शक्ति सचमुच ही अगणित प्रकार से भ्रान्ति उत्पन्न करती है ।

अज्ञानमालस्य-जडत्व-निद्रा-
प्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः ।
एतैः प्रयुक्तो नहि वेत्ति किंचि-
न्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ।।११६।।

अन्वय – अज्ञानं, आलस्य-जडत्व-निद्रा-प्रमाद-मूढत्व-मुखाः तमोगुणाः । एतैः प्रयुक्तः, निद्रालुवत् (वा) स्तम्भवत् एव तिष्ठति । किंचित् (अपि) नहि वेत्ति ।

अर्थ – अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद (भ्रान्ति), मूर्खता आदि तमोगुण के लक्षण हैं । इनसे बँधा हुआ व्यक्ति कुछ भी नहीं समझता; बल्कि निद्रालु अथवा लकड़ी के खम्भे के समान जड़ रहता है ।

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते ।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम् ।।११७।।

अन्वय – सत्त्वं जलवत् विशुद्धं तथा अपि ताभ्यां (रजः तमः च) मिलित्वा सरणाय कल्पते । यत्र आत्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन् अर्क इव अखिलं जडं प्रकाशयति ।

अर्थ – सत्त्वगुण जल के समान विशुद्ध है, तो भी रजोगुण तथा तमोगुण के साथ मिश्रित होकर संसार में आवागमन का कारण बनता है । शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा सूर्य के समान सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित होकर जगत् के समस्त जड़ वस्तुओं को प्रकाशित करता है ।

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मा-
स्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः ।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च
दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः।।११८।।

अन्वय – अमानिता-आद्याः, (शौचादि) नियमाः, (अहिंसादि) यम-आद्याः, श्रद्धा च भक्तिः च मुमुक्षुता च दैवी च सम्पत्तिः असत्-निवृत्तिः तु, मिश्रस्य सत्त्वस्य धर्माः भवन्ति ।

अर्थ – अमानित्व आदि (गीता के अध्याय १३, श्लोक ८-१२ में कथित २० गुण); नियम (शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरोपासना); यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह); श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षा तथा दैवी सम्पत्तियाँ (गीता के अध्याय १६ के श्लोक १-३ में कथित अभय आदि २६ गुण) और बुरे आचरण का त्याग – ये सभी मिश्रित सत्त्वगुण के धर्म (लक्षण) हैं ।

जीवन-संगीत

(यमन–कहरवा)

(एच.डब्लू. लाँगफेलो की सुप्रसिद्ध कविता
'ए सैम ऑफ लाइफ' का भावानुवाद)

कहो कभी न उदास स्वरों में, जीवन है इक स्वप्न असत्य;
सोता जो उसको मृत समझो, सत्य न सब जो लगता सत्य ।।

जीवन सच है और सार्थक, मृत्यु नहीं है इसका अन्त;
नहीं धूल में कभी मिलोगे, तुम हो चिर आत्मा अनन्त ।।

सुख भी नहीं, न दुख ही अपना, जीवन मार्ग और गन्तव्य;
दिन-पर-दिन आगे बढ़ जाना, ही है जीवन का कर्तव्य ।।

कला बहुत जीवन क्षणभंगुर, हृदय सबल लो इसको जान;
तो भी बज रहे वाद्य सब, अन्तिम यात्रा चली श्मशान ।।

विश्व एक संग्राम क्षेत्र है, सैन्य शिविर है यह जीवन;
बनो न मूक भारवाही पशु, साहस दिखलाओ प्रतिक्षण ।।

भावी सुख के स्वप्न न देखो, मृत अतीत ढोवे निज लाश;
वर्तमान में कार्य करो तुम, रखकर ईश्वर में विश्वास ।।

महत् जनों का जीवन प्रतिपल, देता है सन्देश सभी को;
हम भी महिमामय कर सकते, अपने छोटे-से जीवन को ।।

होंगे जब विदा जगत् से हम, पदचिह्न छोड़कर जाएँगे;
वे समय बालुका पर अंकित, चिर दिन तक देखे जाएँगे ।

थककर यदि हुआ निराश कहीं, शायद कोई चलता राही;
उन पदचिह्नों को देख वहाँ, पा जाए अभिनव आशा ही ।

अतएव चलो हम जुट जाएँ, अपना भविष्य खुद गढ़ने को,
अविरत श्रम सीखेंगे 'विदेह', उन्नति की सीढ़ी चढ़ने को ।।

राष्ट्रीय एकता की कुंजी

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

बहुरंगी राष्ट्रीय पट : बहुत्व में एकत्व

सचमुच एक विविध जातियों का अजायबघर! हाल ही में प्राप्त हुए सुमात्रा-शृंखला के अर्द्ध-वानर (half-ape) का कंकाल, खोजने पर यहाँ भी कहीं मिल जाएगा। डोलमेनों की कमी नहीं है। पत्थर के औजार कहीं से भी खोदकर निकाले जा सकते हैं। किसी समय यहाँ झीलवासी – कम-से-कम सरितावासी लोगों की बहुतायत रही होगी। गुहावासी और पत्तियाँ पहनेवाले अब भी मिलते हैं। देश के विभिन्न भागों में आज भी जंगलों में रहनेवाले आदिम शिकारी दिखायी देते है। फिर और अधिक ऐतिहासिक विभेद है – निग्रीटो-कोलारी, द्रविड़ और आर्य।

फिर बीच-बीच में इनमें समाते गये हैं लगभग सभी ज्ञात और अब तक अज्ञात अनेक जातियों के अंश – विविध मंगोल वर्ग, मंगोल, तातार और भाषाविज्ञानियों की तथाकथित आर्यजाति। फिर यहाँ हैं – फारसी, यूनानी, यूँची, हूण, चीन, सीथियन और अन्य अनेक; जो घुल-मिलकर एक हो गये हैं – यहूदी, पारसी, अरब, मंगोल आदि से लेकर समुद्री डाकुओं तथा जर्मन जंगली सरदारों के वंशज तक, जो अभी तक आत्मसात् नहीं किये जा सके हैं – इन जातीय-तरंगों से निर्मित मानवता का महासागर – जो (तरंगें) उद्वेलित, उत्तेजित, उबलती, संघर्षरत, निरन्तर परिवर्तनशील रूप धारण करती हुई; धरातल तक उठती, फैलती और छोटी लहरों को उदरस्थ करती हुई, फिर शान्त हो जाती हैं – यह है भारत का इतिहास![५]

जाति धर्म, भाषा तथा शासन-प्रणाली – ये सब एक साथ मिलकर एक राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। यदि एक-एक जाति को लेकर हमारे राष्ट्र से तुलना की जाय, तो हम देखेंगे कि जिन उपादानों से संसार के दूसरे राष्ट्र गठित हुए हैं, वे संख्या में यहाँ के उपादनों से कम हैं। यहाँ आर्य हैं, द्रविड़ हैं, तातार हैं, तुर्क हैं, मुगल हैं, यूरोपीय हैं, मानो – संसार की सभी जातियाँ इस भूमि में अपना-अपना खून मिला रही हैं। भाषा का यहाँ एक विचित्र-सा जमावड़ा है, आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीय जातियों में जितना अन्तर है, उतना प्राच्य और यूरोपीय जातियों में भी नहीं है।
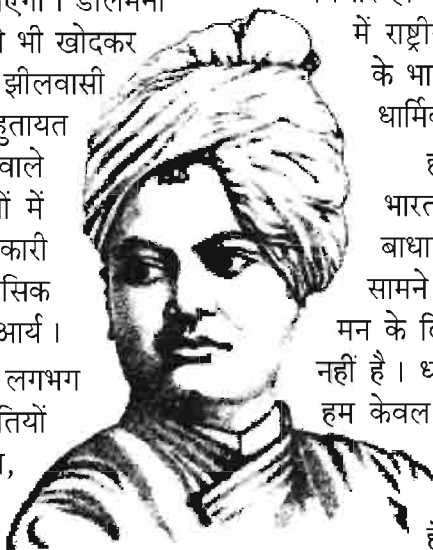
हमारे पास एकमात्र मिलन-भूमि है – हमारी पवित्र परम्परा, हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है और उसी पर हमें संगठित होना पड़ेगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है; परन्तु एशिया में राष्ट्रीय एकता का आधार धर्म है, अत: भारत के भावी संगठन की पहली शर्त के तौर पर इस धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है।[६]

हम देखते हैं कि एशिया में, और विशेषत: भारत में जाति, भाषा, समाज सम्बन्धी सारी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण की शक्ति के सामने उड़ जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिये धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूलमंत्र है और हम केवल सबसे कम बाधावाले मार्ग का अनुसरण करके ही कार्य में अग्रसर हो सकते हैं। धार्मिक आदर्श यहाँ सबसे बड़ा आदर्श है, यह बात न केवल सत्य है, अपितु यही भारत के लिये कार्य करवाने का एकमात्र सम्भाव्य उपाय है। पहले उस पथ को सुदृढ़ किये बिना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसीलिये भविष्य के भारत-निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगों के उस चट्टान पर खोदकर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है।[७]

अपने राष्ट्रीय हित के लिये, जैसा कि अतीत काल में किया गया था और चिर काल तक किया जाएगा, हमें सबसे पहले अपनी राष्ट्र की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों को ढूँढ़ निकालना होगा। अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्र करना ही भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का एकमात्र उपाय है। जिनकी हृत्तंत्री एक ही आध्यात्मिक स्वर में बँधी है, उन सबके सम्मिलन से ही भारत में राष्ट्र का गठन होगा।[८]

ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिये; और न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना होगा। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिये कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपने स्वयं के विकास के नियम के अनुसार विकास करे।[९]

सम्प्रदाय अवश्य रहें, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय।[१०]

एकता की कुंजी

हम जानते हैं कि हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा दावे चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, हमारे धर्म में कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जो सभी सम्प्रदायों में मान्य हैं। अत: हमारे सम्प्रदायों के ऐसे कुछ सामान्य आधार अवश्य हैं, जिनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्भुत विविधता के लिये गुंजाइश हो जाती है और साथ ही विचार तथा अपनी रुचि के अनुसार जीवन-निर्वाह के लिये हमें पूर्ण स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाती है। कम-से-कम हम लोग, जिन्होंने इस पर विचार किया है, यह बात जानते हैं। हमारे लिये जरूरी है कि अपने धर्म के ये जीवनप्रद सामान्य तत्त्व हम सबके सामने लाएँ और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, उन्हें जानें-समझें तथा जीवन में उतारें। सर्वप्रथम यही हमारा कार्य है।[११]

हमें उन बातों का प्रचार करना होगा, जिन पर हम सभी सहमत हैं और तब आपसी मतभेद अपने आप ही दूर हो जाएँगे। मैं भारतवासियों से बारम्बार कहता रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अँधेरा फैला हुआ है, तो क्या – "घोर अन्धकार ! भयंकर अन्धकार !!" – कहकर चिल्लाने मात्र से अँधेरा दूर हो जाएगा? नहीं। रोशनी जला दो – फिर देखोगे कि अँधेरा तत्काल दूर हो जाएगा।[१२]

विश्व के पथ-प्रदर्शक

सत्य के दो आदर्श – श्रुति और स्मृति

हमारे शास्त्रों में सत्य के दो आदर्श हैं – पहले को हम सनातन सत्य कहते हैं; और दूसरे प्रकार का सत्य पहले वाले की तरह प्रामाणिक न होने पर भी, विशेष-विशेष देश, काल और पात्र पर लागू होता है। श्रुति अर्थात् वेदों में जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णित है। मनु आदि की स्मृतियों, याज्ञवल्क्य आदि की संहिताओं और पुराणों तथा तंत्रों में दूसरे प्रकार का सत्य है। ये द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थ तथा उपदेश श्रुति या वेदों के अधीन हैं, क्योंकि यदि स्मृति और श्रुति में विरोध हो, तो श्रुति को ही प्रमाण रूप में ग्रहण करना होगा। यही शास्त्र का विधान है। अभिप्राय यह कि श्रुति में जीवात्मा की नियति तथा उसके चरम लक्ष्य-विषयक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है; और इनकी व्याख्या तथा विस्तार का काम स्मृतियों तथा पुराणों पर छोड़ दिया गया है – ये प्रथमोक्त सत्य के ही सविस्तार वर्णन हैं। साधारणतया पथ-प्रदर्शन के लिये श्रुति ही पर्याप्त है। धार्मिक जीवन बिताने के लिये, सार-तत्त्व के विषय में, श्रुति के कहे उपदेशों से अधिक, न कुछ कहा जा सकता है और न कुछ जानने की जरूरत ही है। इस विषय में जो भी आवश्यक है, वह श्रुति में है; जीवात्मा की सिद्धि-प्राप्ति के लिये जो-जो उपदेश चाहिये, श्रुति में उनका सम्पूर्ण वर्णन है। केवल विशेष अवस्थाओं के विधान श्रुति में नहीं है। समय-समय पर स्मृतियों में इनकी व्यवस्था दी गयी है।

श्रुति की एक अन्य विशेषता यह है कि अनेक महर्षियों ने श्रुति में विभिन्न सत्य संकलित किये हैं, इनमें पुरुष अधिक हैं, परन्तु कुछ महिलाएँ भी हैं। इनके व्यक्तिगत जीवन या जन्मकाल आदि के विषय में हमें बहुत कम जानकारी है, परन्तु उनके सर्वोत्कृष्ट विचार, जिन्हें श्रेष्ठ आविष्कार कहना ही उपयुक्त होगा, हमारे देश के धर्म-साहित्य – वेदों में लिपिबद्ध तथा संरक्षित हैं। परन्तु स्मृतियों में ऋषियों की जीवनी और प्राय: उनके कार्यकलाप विशेष रूप से देखने को मिलते हैं, स्मृतियों में ही हम सर्वप्रथम अद्भुत, महा-शक्तिशाली, प्रभावोत्पादक और संसार को संचालित करनेवाले व्यक्तियों का परिचय प्राप्त करते हैं। कभी-कभी उनके समुन्नत और उज्ज्वल चरित्र उनके उपदेशों से भी अधिक उत्कृष्ट जान पड़ते हैं। ...

परन्तु श्रुति अथवा वेद ही हमारे धर्म के मूल स्रोत हैं, जो पूर्णत: निराकारवादी हैं। बड़े-बड़े आचार्यों, बड़े-बड़े अवतारों और महर्षियों का उल्लेख स्मृतियों और पुराणों में है।[१]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. २८१; **६**. वही, खण्ड ५, पृ. १८०; **७**. वही, खण्ड ५, पृ. १८१; **८**. वही, खण्ड ५, पृ. २६२; **९**. वही, खण्ड १, पृ. २६-२७; **१०**. वही, खण्ड ५, पृ. २६३; **११**. वही, खण्ड ५, पृ. १८०-८१; **१२**. वही, खण्ड ५, पृ. २७५; **विश्व के मार्गदर्शक; १**. वही, खण्ड ५, पृ. १४३-४४;
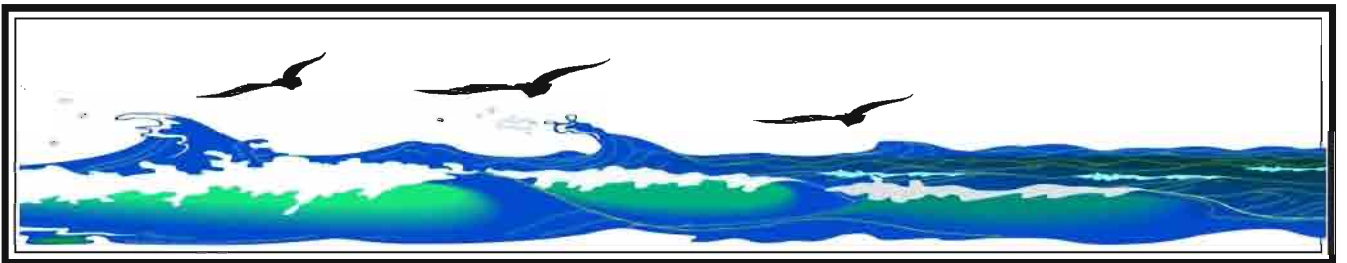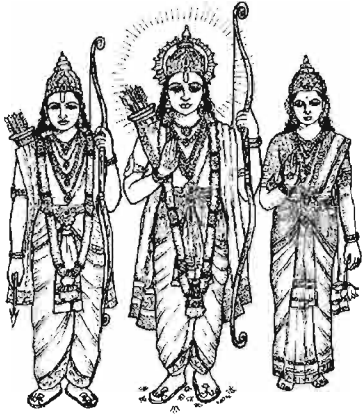
नाम की महिमा (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

राम एक तापस तिय तारी ।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।। १/२४/३

– श्रीराम ने तो केवल एक तपस्वी स्त्री का उद्धार किया, परन्तु उनके नाम ने करोड़ों दुष्ट बुद्धिवालों को सुधार दिया।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, अन्य समुपस्थित आदरणीय सन्त-मण्डली, बन्धुओ और देवियो !

गोस्वामीजी ने इस अपने युग के व्यक्तियों को आश्वासन दिया है कि भले ही आज त्रेतायुग हो और प्रत्यक्ष रूप से भगवान श्रीराम न दिखाई देते हों, परन्तु भगवान का दिव्य नाम आज भी है और भगवान के नाम के द्वारा हम उन सारी समस्याओं का समाधान पा सकते हैं, जिनका समाधान त्रेतायुग के लोगों ने पाया था।

ताड़का वध की चर्चा चल रह थी। महर्षि विश्वामित्र महानतम ऋषि हैं; वेदों के मंत्रद्रष्टा हैं; योगी, ज्ञानी तथा यज्ञकर्ता हैं। साधना के सभी अंग उनमें विद्यमान हैं। महर्षि विश्वामित्र को ही चुनने का तात्पर्य यह है कि उस समय के समग्र ऋषि परम्परा में उन्हीं का स्थान अप्रतिम था। उनकी तपस्या, उनकी साधना, उनका पुरुषार्थ – सब कुछ अद्भुत था। उन्होंने तत्कालीन परम्परा को परिवर्तित करके एक ही जन्म में क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व को पाया था।

इतना होते हुए भी उनमें कोई न्यूनता थी या नहीं? समग्र पुरुषार्थ के बाद भी बड़े-बड़े व्यक्तियों के मन में अन्तःकरण की कुछ वृत्तियाँ उदित हो जाती हैं। महर्षि विश्वामित्र के चरित्र में भी दो समस्याएँ कई बार आईं। काम की समस्या का संकेत भी उनके चरित्र में प्राप्त होता है और यह भी लिखा है कि विश्वामित्रजी को अत्यन्त क्रोध आ जाता है।

जैसे कोई बर्तन जिस धातु से बना हुआ होगा, उस धातु के दोष और गुण उस बर्तन में भी किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान रहेंगे, ठीक वैसे ही व्यक्ति के निर्माण के मूल में काम की वृत्ति है। सृजन का मूल आधार काम है। चूँकि काम की वृत्ति सृष्टि के मूल में विद्यमान है, अतः यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जीवन में अलग-अलग मात्रा में दिखाई देती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि काम या क्रोध को स्वाभाविक मानकर हम उसका समर्थन करें और यह कहकर अपने को सन्तुष्ट करें कि इनका होना तो स्वाभाविक है।

अयोध्या-काण्ड में प्रसंग आता है। भगवान राघवेन्द्र को भरतजी के आगमन का समाचार मिला और सूचना देनेवालों ने यह भी कहा कि उनके साथ बड़ी विशाल सेना भी है; तो इसे सुनकर भगवान राम उद्विग्न हो जाते हैं। इस उद्विग्नता के पीछे उनकी यह धारणा थी कि निश्चित रूप से भरत मुझसे लौटने का आग्रह करने के लिए या वन में ही मेरा राज्याभिषेक करने के लिए सेना लेकर आ रहे हैं। यदि भरत ने मुझसे आग्रह किया, तो मैं कैसे मना करूँगा।

परन्तु प्रभु के मुख-मण्डल पर अन्तर्द्वन्द्व का भाव देखकर लक्ष्मणजी को ऐसा लगा कि सेना सहित भरत के आने का समाचार सुनकर प्रभु व्याकुल हो उठे हैं और उनकी व्याकुलता का कारण यह है कि क्या अब मुझे भाई के विरुद्ध शस्त्र उठाकर युद्ध करना पड़ेगा? उस समय लक्ष्मणजी ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि वैसे तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि भरत के मन में ऐसा विकार आ सकता है, परन्तु ऐसा मानना कोरी भावुकता ही होगी। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने इतिहास के कई पात्रों का दृष्टान्त देते हुए कहा – चन्द्रमा गुरुपत्नी-गामी हुआ, राजा नहूष ने ब्राह्मणों से पालकी ढुलवाई और राजा बेन के समान तो नीच कोई भी नहीं होगा, जो लोक तथा वेद – दोनों से ही विमुख हो गया; फिर सहस्त्रबाहु, इन्द्र तथा त्रिशंकु – इनमें से कौन राजमद के द्वारा कलंकित नहीं हुआ –

ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेऊ भूमिसुर जान ।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान ।।२/२२८
सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकु ।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ।। २/२२९/१

लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि ये लोग बड़े ही उच्च चरित्रवाले थे, पर उनके चरित्र में भी ऐसी दुर्बलताएँ आयीं, काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ आईं कि वे बदल गये।

लक्ष्मणजी का भाषण समाप्त हो जाने के बाद भगवान ने अपने उत्तर में उनकी बात का समर्थन ही किया। उन्होंने कहा कि इस विश्व का निर्माण गुण और दोष को मिलाकर ही हुआ

है, अत: व्यक्ति के अन्त:करण में गुण के साथ-साथ दोष की भी वृत्ति होती है। इतिहास में यदि बड़े-से-बड़े व्यक्ति के जीवन में भी दोष का उदय हुआ दिखाई देता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परन्तु भगवान श्रीराघवेन्द्र ने एक सूत्र देते हुए कहा कि हंस एक ऐसा पक्षी है, जो दूध और जल को अलग कर देता है। जल दोष का प्रतीक है और दूध गुण का। संसार में सर्वत्र गुण और दोष दोनों मिले हुए हैं। परन्तु – भरत ने सूर्यवंश रूपी तालाब में जन्म लेकर गुणों तथा दोषों का विभाजन कर दिया है। भरत ने गुणरूपी दूध को ग्रहण करके तथा दोषरूपी पानी को छोड़कर अपने यश से सम्पूर्ण जगत् को आलोकित कर दिया है –

भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा।।
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी।। २/२३२/६-७

यदि कोई हंस के द्वारा दूध और पानी को अलग करने के दृष्टान्त को स्थूल पक्षियों के धरातल पर देखे, तो उसे निराश होना पड़ेगा। साहित्य में वर्णन किया गया है कि हंस मोती चुगता है और दूध और पानी को अलग कर देता है, तो कई लोग खोज करते हैं कि वह पक्षी कौन सा है ! प्रकृति में जो पक्षी मिलते हैं, उनमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो मोती चुगता हो और दूध को पानी से अलग करता हो। ये पक्षी आपको साहित्य के मानसरोवर में और काव्य की डालियों पर मिल जायेंगे, परन्तु स्थूल धरातल पर न तो आपको कहीं वैसा चातक मिलेगा और न वैसा हंस। साहित्य में इसे 'कवि-सत्य' के रूप में बड़ा सुन्दर नाम दिया गया है। यह नहीं कहा गया कि यह कवि-कल्पना है, बल्कि कहा गया कि काव्य में इन जितने प्रकार के पक्षियों का वर्णन हुआ है, ये कवि-सत्य हैं। यह जो कवि-सत्य है, वह वास्तविक सत्य से भी अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि वास्तविक सत्य तो कभी-कभी हमारे अन्तर्मन में दुर्भाव तथा विद्वेष की भी सृष्टि कर देता है। लेकिन कवि के द्वारा जो सत्य कहा जाता है, उसको व्यक्ति यदि अपने अन्तर्जीवन में घटित कर ले, यदि वह चातक की खोज करने के स्थान पर अपने में चातक की वृत्ति ले आये और हंस की खोज करने के स्थान पर अपने में हंस की वृत्ति ले आये, तो उसका जीवन धन्य हो जायेगा।

रामायण में हंस-वृत्ति की व्याख्या की गई है। हंस को तीन गुणों का प्रतीक बताया गया। ज्ञान, वैराग्य और विचार – इन तीनों को हंस कहा गया है –

ग्यान बिराग बिचार मराला।। १/३७/७

कहते हैं कि हंस मोती चुगता है, तो वह मोती कौन-सा है? महर्षि वाल्मीकि ने भगवान राम के रहने हेतु जो चौदह स्थान बताए, उसमें उन्होंने एक सूत्र दिया। कुछ लोग आज भी मानसरोवर की यात्रा करते हैं। गोस्वामीजी ने राम-चरित-मानस की तुलना भी मानसरोवर से की है और कहा कि उस मानसरोवर में अभी न तो हंस मिलेगा और न तो मोती ही मिलेंगे, परन्तु वस्तुत: भगवान का यश ही मानसरोवर है और हमें अपनी जिह्वा को हंसिनी बना लेना है –

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु।। २/१२८

हम अपनी जिह्वा को हंसिनी बनाकर भगवान के यश-रूपी मानसरोवर की यात्रा करें। बड़ी सरल यात्रा है। उस मानसरोवर की यात्रा तो इन दिनों हर वर्ष होने लगी है और कुछ गिने-चुने लोग जा भी पाते हैं। परन्तु भगवान के यश का जो मानसरोवर है, वहाँ तक जिह्वा-हंसिनी की यात्रा बड़ी सुगम है। यह हंसिनी जो मोतियाँ चुनती है, वे कौन-से हैं? – आपके गुणों की मोतियाँ –

मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु।। २/१२८

महर्षि वाल्मीकि का यह सूत्र बड़े महत्त्व का है। हंस मोती चुगता है और दूध तथा पानी को अलग कर लेता है। दूध को पी लेता है और जल का परित्याग कर देता है। हंस के लिए ये दोनों गुण एक दूसरे के पूरक हैं।

व्यक्ति जब तक सांसारिक गुणों का आश्रय लेगा, तब तक उसमें गुण और दोष की सम्भावना बनी रहेगी। एकमात्र ईश्वर के गुण ही परिपूर्ण हैं। उनमें दोष का लेश भी नहीं है। जब हम समस्त दोषों से रहित भगवान के गुणों को अपने अन्त:करण में धारण करेंगे, जिह्वा से उनके गुणों का गायन करेंगे, तो इसके परिणाम-स्वरूप हममें हंस के समान ज्ञान, वैराग्य, और विचार का उदय होगा और हमें वह क्षमता प्राप्त होगी, जिससे दोषों का परित्याग करके गुणों को ग्रहण किया जा सकता है। इसका परिणाम होगा कि हमारे हृदय में भगवान आकर निवास करेंगे।

जहाँ तक व्यक्ति के साधन तथा पुरुषार्थ की सीमा है, उसमें गुणों के साथ दोषों का मिश्रण अवश्यम्भावी है। परन्तु हमें निराश न होकर ऐसी स्थिति उत्पन्न करने की चेष्टा करनी है कि जिसके द्वारा हमारे जीवन में दोष विनष्ट होकर समग्र गुणों का उदय हो। यह समग्र गुणों का उदय भगवान तथा गुणों के आश्रय के बिना सम्भव नहीं है।

विश्वामित्र के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्त में वे भी जब अनुभव करते हैं कि ताड़का, सुबाहु और मारीच आदि राक्षसों का संहार मेरे द्वारा तो सम्भव नहीं है, परन्तु यह तो सम्भव है कि मैं भगवान को पाऊँ और उनसे अनुरोध करूँ कि आप ताड़का का वध कर दीजिये और यज्ञ को परिपूर्णता प्रदान कीजिये। गीता में भगवान ने एक बड़े महत्त्व का वाक्य कहा है – यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ –

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि .... ।। १०/२५

जपयज्ञ को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ क्यों कहा गया है। यज्ञों के अनुष्ठान में प्राय: कुछ-न-कुछ कमी रह जाती है। आपने यज्ञ-मण्डप में या अपने यहाँ पूजन के अन्त में देखा होगा कि आहुति देने के बाद या पूजन के बाद अन्त में विद्वान् आचार्य बहुधा एक श्लोक पढ़ा करते हैं –

यस्य स्मृत्या च नामोक्तया तपो-यज्ञःक्रियादिषु ।
न्यूनः सम्पूर्णतां यातु सद्यो वन्दे तमच्युतम् ।।

इसका तात्पर्य है कि अन्त में हम उन भगवान का नाम स्मरण करते हैं जिनका नाम लेने से पूजा यज्ञ आदि क्रिया में जो न्यूनता रहती है, वह न्यूनता मिट जाती है।

तो विधि-प्रधान यज्ञों में न्यूनता रह जाना अवश्यम्भावी है और एकमात्र भगवान के नाम से ही वह न्यूनता समाप्त होती है। परन्तु जपयज्ञ में ऐसी कोई सम्भावना नहीं रहती, इसीलिए यज्ञों में जपयज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है।

महर्षि विश्वामित्र के और साधक के जीवन में भी इस बात का अनुभव होता है कि एकमात्र ईश्वर ही समस्त दोषों से शून्य हैं और वे ही विकारों को पूर्णत: नष्ट कर सकते हैं, अत: हम उनसे प्रार्थना करें और वे हमारा संकल्प पूर्ण करें –

हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ।। १/२०६/५

विश्वामित्रजी इस भावना को लेकर महाराज श्रीदशरथ के पास जाते हैं और वशिष्ठजी की सहायता से राम-लक्ष्मण को पाने में सफल होते हैं और उनको लेकर आते हैं। तब महर्षि विश्वामित्र के जीवन में परिपूर्णता का जो क्रम हमें दिखाई देता है, उसे गोस्वामीजी ने सांकेतिक भाषा में बताया है –

महर्षि विश्वमित्र के सामने सबसे पहले ताड़का आती है। ताड़का कौन है? ज्ञान की दृष्टि से भेद-बुद्धि ही ताड़का है, क्योंकि बिना भेदबुद्धि के व्यक्ति को क्रोध नहीं आता। पर भक्ति की दृष्टि से इस ताड़का का एक दूसरा तात्पर्य भी है, जो बड़ा व्यावहारिक है। दोनों ही सूत्र बड़े महत्व के हैं। यहाँ 'नाम-रामायण' में ताड़का की दुराशा से तुलना की गई है –

रिषि हित राम सुकेतुसुता की ।
सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।
सहित दोष दुख दास दुरासा ।
दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ।। १/२४/४-५

– श्रीराम ने तो ऋषि विश्वामित्र के हितार्थ, सेना तथा पुत्र सुबाहु सहित सुकेतु-कन्या ताड़का का वध किया, परन्तु उनके नाम ने अपने भक्तों के दोषों, दु:खों तथा दुराशाओं का वैसे ही नाश कर दिया जैसे सूर्य रात्रि का।

ताड़का दुराशा है। इसके पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण है। हमें क्रोध कब आता है? हम लोगों में आशा की एक वृत्ति है, परन्तु यहाँ कुछ और जोड़कर 'दुराशा' कहा गया। हमारे मन में आशा और निराशा – ये दो प्रकार की वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। हमारे जीवन में कभी आशा का उदय होता है और कभी निराशा का उदय होता है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें आशा की प्रधानता है और कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जिनमें नैराश्य की प्रधानता है। दोनों में कौन श्रेष्ठ है? कई बार इसको लेकर विवाद होता है। व्यवहार में तो यही दिखाई देता है कि निराशावादी लोग बड़े दुखी रहते हैं। आशावादी व्यक्ति के मन में जब तक आशा रहती है, कम-से-कम तब तक तो उनमें प्रसन्नता रहती ही है। परन्तु जब उसकी आशा की पूर्ति में बाधा पड़ती है, तो उसे क्रोध आता है, क्षोभ होता है और दु:ख का अनुभव होता है।

इन दोनों वृत्तियों पर जरा गहराई से विचार करें। आशा के विषय में एक वाक्य गोस्वामीजी ने कहा और निराशा के बारे में दूसरा वाक्य पुराणों में कहा गया है। गोस्वामीजी ने दोहावली में कहा – संसार में जितने देवी और देवता हैं, उनमें आशा देवी ही सबसे विलक्षण है। इनमें विचित्रता क्या है? बोले – अन्य किसी देवी की पूजा की जाय, तो वे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हैं और पूजा न की जाय, तो शायद रुष्ट हो जायेंगी। परन्तु आशादेवी की कोई पूजा करे, तो वे बदले में शोक देंगी और यदि इनकी पूजा बन्द कर दें, तो मन में शान्ति आ जायेगी।

तुलसी अद्भुत देवता आशादेवी नाम ।
सेएँ सोक समर्पई बिमुख भएँ अभिराम ।। दो. २५८

और श्रीमद् भागवत में भी कहा गया है – आशा ही परम दु:ख है और निराशा ही परम सुख है –

आशा ही परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम् ।।

यह बात थोड़ी समझने की है। गोस्वामीजी ने इसका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। **नैराश्यं परमं सुखम्** – का अर्थ क्या है? इस सूत्र को आप जरा गहराई से विचार करके देखें। पिछले दिसम्बर में कानपुर में राम-चरित-मानस के प्रवचन का आयोजन था। उसमें हर वर्ष अन्तिम दिन मानस-संगम होता है और उसमें कई वक्ता आते हैं। अध्यक्षता का कार्य मुझे सौंप दिया जाता है। मेरे सामने संकट तब आया, जब देश के दो बड़े विद्वान् भाषण देने लगे। एक के भाषण में ऐसा निराशा-भरा चित्रण हुआ कि सुनकर लोग अत्यन्त निराश हो गये। वे देश के एक बड़े विद्वान् थे और उन्होंने राम के चरित्र में, कृष्ण के चरित्र में और स्वयं अपने आप को जोड़कर घोर निराशा का प्रतिपादन किया। उनके वक्तव्य पर कुछ लोग बड़े ऊब गये, क्योंकि जनता का तो स्वभाव ही विचित्र होता है। उसका कोई ठिकाना नहीं होता। जब पिछली बार वे विद्वान् वक्ता आए थे, तो लोगों ने उनकी बात को बड़ी शान्तिपूर्वक सुना था, परन्तु इस बार उनका निराशा-भरा व्याख्यान सुनकर लोगों को इतना उद्वेग हुआ कि वे

बीच-बीच में तालियाँ पीटने लगे।

यह ताली पीटना भी बड़ा खतरनाक है। जनता की ताली पता नहीं कि प्रशंसा की ताली है या कथा बन्द कराने के लिए ताली है। जैसा कि स्वाभाविक है, वक्ता को आघात लगा। दूसरे एक लेखक साहित्यकार आए हुए थे, उन्होंने राम-चरित-मानस से एक आशामय चित्र प्रस्तुत किया।

अब मुझे तो दोनों के सामंजस्य की चर्चा करनी थी। वह सूत्र मानस तथा विनय-पत्रिका में विद्यमान है। यहाँ पर भी वही सूत्र मिलेगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि ताड़का दुराशा है, तो वे आशा के पहले एक शब्द 'दु:' और जोड़ देते हैं। दूसरा सूत्र यह है कि जब विश्वामित्रजी की प्रेरणा से ताड़का का वध हुआ, तो मानो दुराशा का वध हुआ। परन्तु जब यह कहा गया कि वध के बाद दुराशा-रूपी ताड़का भगवान में लीन हो गई, तो यह एक बड़ा सार्थक सूत्र दे दिया गया।

आशा के साथ समस्या यह है कि शुरू में तो यह व्यक्ति को उत्साहित करती है, परन्तु व्यक्ति जितनी बड़ी आशा रखता है, बहुधा उतनी पूरी नहीं होती। अपूर्ण आशा ही दुराशा में परिणत हो जाती है। ताड़का के प्रसंग में प्रारम्भ से ही इस दुराशा-वृत्ति का संकेत है। ताड़का के पिता राजा सुकेतु सन्तान चाहते थे। उनके चरित्र का प्रारम्भ यहीं से होता है। जब उन्हें पता चला कि उनकी रानी गर्भवती हो गई है, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में यही आशा पाल ली कि इससे पुत्र का जन्म होगा। सन्तान तो हुई, पर पुत्र के स्थान पर पुत्री का जन्म हुआ।

यह केवल राजा सुकेतु की ही बात नहीं है। अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में ऐसा ही होता है। व्यक्ति सोचता है कि हमें पुत्र मिलना चाहिए, पुत्री नहीं। वस्तुत: व्यक्ति की यह धारणा है कि पुत्र के रूप में उसके स्वार्थ की पूर्ति करनेवाला चाहिए। कन्या तो वस्तुत: केवल अर्पण की वस्तु है, उसे पाकर केवल देना-ही-देना पड़ेगा। व्यक्ति में समर्पण की वृत्ति के स्थान पर यह जो कृपणता की वृत्ति है, यह उसके अन्त:करण में एक दु:ख की सृष्टि करती है। ताड़का का जन्म तो अप्रत्याशित रूप से हो गया। पिता की आशा निराशा में परिणत हुई। सुकेतु राजा मनुष्य थे और ताड़का का जन्म किसी राक्षसी के गर्भ से नहीं, अपितु मानवीय गर्भ से हुआ। पर आशा जब निराशा में बदलती है, तो अपने स्वाभाविक परिणाम के रूप में क्रोध को उत्पन्न करती है। ताड़का क्रोध में भरी रहती है और दूसरों को मिटाने पर तुल जाती है। आशावान व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही संकेत ताड़का के उपाख्यान में मिलता है।

जब आशा की निन्दा की जाती है, तो उसका तात्पर्य क्या है? संसार में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो, जो ऊँची आशा न पालता हो और शायद ही ऐसे बिरले व्यक्ति हों, जिनकी आशा पूरी तौर से पूरी होती हो। फलत: आशा के द्वारा क्रोध की उत्पति होती है। क्रोध का स्वभाव है – दूसरे को कष्ट पहुँचाना, दूसरों को खा लेने की चेष्टा करना। यही ताड़का की वृत्ति है।

दूसरी ओर यदि हम केवल निराशा में डूब जाएँ, केवल निराशा की प्रशंसा करें, तो क्या निराशा अपने आप में कल्याण-कारी हो सकती है? जो व्यक्ति अत्यन्त निराश रहा करते हैं, क्या वे बड़े प्रसन्न दिखाई देते हैं?

एक सज्जन कलकत्ते में मिले। बड़े अद्भुत थे, कहने लगे – "मैं कल भी आप से मिलने आ रहा था, लेकिन मार्ग से लौट गया।" मैंने कहा – "क्यों?" उनको एक विचित्र मनोरोग था! वे बोले – "जब मैं गाड़ी लेकर पुल की ओर चला, तो मुझे पुलों की दुर्घटना की याद आ गई कि कहीं पुल टूटकर गिर न जाय, गाड़ी नदी में न गिर जाय, इस लिए मैं लौट गया।" अब ऐसी विलक्षण कल्पना कि हर क्षण व्यक्ति मृत्यु की ही कल्पना करता रहे। समाचार-पत्र में पढ़कर और सारी घटनाओं को अपने साथ जोड़कर जीवन में व्यवहार करे, तब तो सारा काम-काज ही बन्द हो जाय।

गोस्वामीजी ने ताड़का के सन्दर्भ में ही आशा और निराशा के सूत्र दिये हैं – एक तो 'विनय-पत्रिका' में और दूसरा भरतजी के प्रसंग में। गोस्वामीजी आशा तथा निराशा – दोनों का सदुपयोग करते हैं। विनय-पत्रिका के पदों को पढ़ने पर उसमें नैराश्य का स्वर दिखाई देगा। यहाँ पर भी आप सूत्र देखिये, तो ताड़का दुराशा है। वह क्रोध में भरकर विश्वामित्र और श्रीराम की ओर दौड़ती है, उन्हें मिटाने पर तुली हुई है। विश्वामित्रजी के अनुरोध पर भगवान राम ताड़का का वध करते हैं और उसे अपने आप में लीन कर लेते हैं।

इसका अर्थ यह है कि निराशा और आशा – दोनों का सदुपयोग है – हमारे मन में संसार के लोगों से आशा न रहे। हम संसार के व्यक्तियों से आशा रखेंगे, तो दुखी होंगे। संसार के लोगों से भले ही नैराश्य हो जाय, हमारे मन की वह दुराशा भगवान से मिलकर एकाकार हो जाय। ताड़का को 'एकहि बान' से मारा गया। यह एक बाण अद्वैत ज्ञान का है और यदि इस पर दूसरी दृष्टि से विचार करें। दोहावली में भक्त का लक्षण बताया गया है – एक ही ईश्वर का भरोसा एक ही ईश्वर का विश्वास, एक ही ईश्वर से आशा –

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।। २६६

हमारे अन्त:करण में संसार से निराशा उत्पन्न हो, तो उस **निराशा का भी एक सदुपयोग किया जा सकता है।** जैसा कि श्रीभरत के चरित्र में दिखाई देता है। यहाँ दो दृष्टियाँ हैं।

भरतजी चित्रकूट की ओर जा रहे हैं। यह साधक की यात्रा है। भरतजी स्वयंसिद्ध हैं, लेकिन हम लोगों के लिए श्रीभरत के चरित्र के माध्यम से साधना का क्रम सामने आता

है। श्रीभरत आशावादी हैं या निराशावादी? आपको सूत्र मिलेगा श्रीभरत जब चलते हैं तो कभी तो उनकी गति में तीव्रता आ जाती है, कभी उनकी गति रुक जाती है और कभी-कभी तो उनके मन में पीछे लौटने की भावना भी आ जाती है। ऐसा क्यों होता हैं? गोस्वामीजी कहते हैं कि श्रीभरत के अन्त:करण की वृत्ति के कारण – जब वे अपनी ओर देखते हैं कि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ और कैकेयी ने प्रभु को कितना कष्ट दिया है, मेरे कारण प्रभु को कितनी पीड़ा उठानी पड़ रही है, जब उनको इस बात की स्मृति आती है, तो वे अत्यन्त हताश होकर सोचते हैं कि लौट चलूँ –

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी ।। २/२३४/५

यह है अपनी ओर देखना। यदि व्यक्ति रोगी होते हुए भी स्वयं अपने को रोगी मानने की कल्पना ही न करे, तो उसका रोग असाध्य होकर उसको नष्ट कर देगा। इसलिए रोगी को रोग का ज्ञान तो होना चाहिए, पर रोग से जो नैराश्य उत्पन्न हो, उसको मिटाने के लिए उसका कर्तव्य यह है कि वह वैद्य के ऊपर विश्वास करके आशा करे कि उसकी दवा से हमारे रोग का विनाश होगा। यदि संसार के लोगों के व्यवहार से हमारे अन्त:करण में केवल निराशा ही निराशा उत्पन्न हो, तब तो हमारी गति बिलकुल रुक जायेगी, तब तो हम जीवन में कभी आगे ही नहीं बढ़ेंगे। पर संसार से निराशा होने के बाद आशा भी चाहिये।

विनय-पत्रिका के पदों में आप एक विचित्र क्रम पावेंगे। गोस्वामीजी पद (१५८) का आरम्भ निराशा से करते हैं और अन्त आशा से। कहते हैं – "प्रभो, मैं आपको कैसे दोष दूँ। मेरा मन काम-लोलुप हो कर इधर-उधर भटक रहा है –

कैसे देउँ नाथहिं खोरि ।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ।।
लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि ।
बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ।।

दूसरों को देखकर जिनके मन में निराशा होती है, वे भी अपनी निराशा का ठीक ढंग से सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। हमें दूसरों को देखने के साथ-साथ अपनी ओर भी देखना चाहिये। दूसरों में दोष देखकर निराश होने की वृत्ति तो सबमें दिखाई देती है, पर अपने आप से भी निराशा – यह साधक की वृत्ति है। अपने आपसे निराशा अर्थात् **अपनी कमियों की ओर हमारी दृष्टि जाती है या नहीं?** कई बार जब लोग दूसरों से रुष्ट होते हैं, तो तुरन्त रामायण की चौपाई दुहरा देते हैं – क्या करें, सारा संसार ही स्वार्थी है –

सुर नर मुनि सब कै यह रीती ।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।। ४/१२/२

साधक की विशेषता यह है कि वह संसार को भी देखता है तो भी नैराश्य की अनुभूति होती है और जब अपनी ओर देखता है तो उसे स्वयं में भी इतनी कमी दिखाई देती है कि उसे बड़ी निराशा होती है, प्रारम्भ उसका नैराश्य से होता है। विनय-पत्रिका के इस पद में गोस्वामीजी अपनी कमियों को याद कर रहे हैं कि मेरा मन कैसा है – कामयुक्त, क्रोधयुक्त, लोभयुक्त आदि। तो गोस्वामीजी भगवान के सामने पहुँच गये और लगे अपनी बात सुनाने। भगवान बोले – "इन दोषों के बदले में क्या तुम दण्ड पाना चाहते हो? कोई-कोई अपराधी इस आशा में न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार करता है कि दण्ड शायद कम मिले। तो क्या तुम यह सोचते हो कि तुम्हारे इन दोषों के बदले में मैं तुम्हें दण्ड दूँ?"

गोस्वामीजी ने पद का प्रारम्भ कहाँ से किया और अन्त में कहाँ पहुँच गये? सारे दोष गिनाने के बाद कहने लगे – थोड़ा-सा और सुन लीजिए। – क्या? – इतने दोष होते हुए भी चारों ओर मैं यही प्रचार करता हूँ कि मैं राम का हूँ। भगवान ने कहा – तुम्हें लज्जा नहीं आती? तुम स्वयं जानते हो कि तुममें कितने दोष हैं, मुझसे सम्बन्ध जोड़ने में तुम्हें लज्जा तो आती होगी। कहने लगे – बिलकुल नहीं आती। – क्यों? बोले – लज्जा को तो मैंने घोलकर पी लिया है –

एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि ।।

प्रभु ने पूछा – तो फिर तुम अब क्या सोचते हो? बोले – प्रभो, अब तो बस एक ही बात है। ऐसा निर्लज्ज आपको कोई नहीं मिलेगा। आपकी सभा में एक निर्लज्ज की भी जरूरत है, तो आप मेरी निर्लज्जता पर रीझ जाइए –

निलजता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ।।

यह पद नैराश्य से प्रारम्भ होता है, परन्तु गोस्वामीजी की आशा कहीं नहीं छूटती कि हम भगवान की कृपा प्राप्त कर सकते हैं, वे हमें धन्य बना सकते हैं। शुरू करेंगे – प्रभो, मेरे कर्म तो ऐसे हैं कि मुझे तो सीधे नरक में भेज दीजिए।

कीजै मोको जमजातनामई ।।
राम ! तुमसे सुचि सुहृद साहिबहिं, मैं सठ पीठ दई ।।

– तो फिर कहने मेरे पास क्यों आए हो। – महाराज, मैं यह कह तो रहा हूँ, पर जानता हूँ कि यह आपके बस का नहीं है। जैसे मैं लाचार हूँ, वैसे ही आप भी लाचार हैं। और अन्त कहाँ करते हैं? मैं यह जानता हूँ कि मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं होगी। मुझे नरक-वरक में नहीं भेजा जायेगा। – क्यों? – यदि जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ पाता, तो फिर आप भला अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिए आपकी शोभा इसी में है कि मैं चाहे कैसा भी क्यों न होऊँ, परन्तु आप अपने स्वभाव से मेरा हित ही करेंगे।

एतेहु पर हित करत नाथ मेरो,
करि आये, अरु करिहैं ।। वि. १७१

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ (क्रमश:) ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

अनुशासन का महत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम हेतु विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये जाते रहे तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मेरे एक मित्र हैं। उन्हें पेड़-पौधों से बड़ा प्यार है। बड़ा जतन करते हैं। ऐसी देखभाल करते हैं मानो वे उनके बच्चे हों। उन्होंने अशोक का एक पौधा लगाया। पौधा बढ़ने लगा। जो डाली उन्हें अनावश्यक प्रतीत होती, उसे वे काट देते। यदि तना उन्हें झुकता नजर आता, तो वे खपच्ची बाँध कर सीधा कर देते। ऊपर की शाखा-प्रशाखाओं को छाँटकर गोल आकार दिया करते। कुछ वर्ष बाद पौधा बढ़कर एक परिपक्व वृक्ष बन गया – कितना सुन्दर, कितना मोहक ! देखो तो आँखें वहीं टिक जातीं। मैंने भी देखादेखी अशोक का एक वृक्ष रोप दिया। वह बढ़ने लगा और कुछ वर्ष बाद वह भी एक बड़ा पेड़ बन गया। पर उसमें मित्र के पेड़-सी न तो सुन्दरता थी, न मोहकता। कारण का चिन्तन करने पर मित्र ने बताया कि तुम्हारे पेड़ का विकास बेतरतीब था, अनुशासन-बद्ध नहीं था। मित्र ने मुझसे पूछा – क्या तुम उचित समय पर अनावश्यक डालियों को काटते थे? तने को झुकने से बचाने के लिए खपच्ची लगाते थे? मेरा उत्तर 'नहीं' में था। मतलब यह की पेड़ का विकास भी यदि हमें मनोवांछित रूप से साधित करना है, तो उसे अनुशासन में रखना होगा।

मेरी आँखें खुल गयीं। देश बौना हो गया है - देश के अंग-प्रत्यंग बेतरतीब बढ़े हैं। कारण समझ में आ गया। देश को आजादी के इन पैंतीस वर्षों में अनुशासन की प्रक्रिया में नहीं बाँधा गया। सुन्दर सुन्दर पौधों को सही दिशा नहीं दी गई, इसलिए वे बेतरतीब बढ़कर देश की खुशहाली के साधक होने के बदले बाधक बन गये। हमने आजादी के पहले का वह पाठ भुला दिया कि जब एक सामान्य पौधे को इच्छानुकूल रूप देने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है, तब मानव रूपी पौधे को उचित आकार देने के लिए कितनी तपस्या न लगती होगी। और उसका फल प्रत्यक्ष है। हम बड़ी उपलब्धि चाहते हैं, पर अनुशासन हमें पसन्द नहीं। तो यह उपलब्धि कैसे हासिल हो सकती है? मैं रविशंकर के सितार-वादन की प्रशंसा कर सकता हूँ, पर तब मैं यह भूल जाता हूँ कि इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए रविशंकर को अनुशासन की कैसी कड़ी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा होगा।

मेरे एक वेदपाठी मित्र हैं। आज वेदपाठ में उनका नाम देश भर में फैला है। उन्हें बचपन में वेदपाठ करते हुए देखता था। पिता छड़ी लेकर पुत्र को वेदपाठ सिखा रहे हैं। आरोह और अवरोह में किसी शब्द में पुत्र ने भूल की, तो तड़ से बेंत की मार उन्हें सहनी पड़ती थी। उस समय तो लगता था कि यह कठोरता है। पर आज उसी कठोरता का कितना मीठा फल उन्हें मिला है। तब पिता के प्रति उनका आक्रोश था। आज उन्हीं पिता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते वे थकते नहीं। यह अनुशासन प्रारम्भ में कठोर तो लगता है, पर उसका फल महान् बनानेवाला होता है।

अनुशासन वह खराद है, जो हीरे का मल दूर कर उसे चमका देता है। हम चमकना तो चाहते हैं, पर खराद की प्रक्रिया से गुजरना हमें पसन्द नहीं। हम सब कुछ आसानी से, शार्ट कट के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। हम इसे बुद्धिमानी समझते हैं। पर है यह हमारी नादानी, और हमारी यह नादानी देश को किस प्रकार तबाह कर रही है, यह दृश्य तो आँखों के सामने ही है। स्वामी विवेकानन्द ने आज से नब्बे साल पहले कहा था - "चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता।" उनका यह कथन आज के सन्दर्भ में कितना सत्य है। हम चालाकी को ही बड़ा होने का रसायन समझ बैठे हैं। और विडम्बना यह है कि हम तो अनुशासित नहीं रहना चाहते, पर दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे अनुशासन में रहें। क्या यह कभी सम्भव है?

अनुशासन प्रारम्भ में बलपूर्वक ही करना पड़ता है, बाद में वह सहज हो जाता है। भय का अनुशासन अस्थायी होता है, वह भय के दूर होते ही नष्ट हो जाता है। इसका अनुभव हमने आपात्काल में किया है। टिकाऊ अनुशासन वह है, जो भीतर से आता है। उसमें समाजबोध जुड़ा होता है। निपट स्वार्थी व्यक्ति अनुशासन का बन्धन स्वीकार नहीं करता। हमें सामाजिक चेतना का पाठ नहीं पढ़ाया गया है। हमारा धर्म भी प्रचलित तौर पर स्वार्थ का ही पाठ पढ़ाता है - अपने पुण्य और अपने मोक्ष की बात पर जोर देता है। जब तक यह दृष्टिकोण न बदला गया और सामाजिक चेतना को सर्वोपरि स्थान न दिया गया, तब तक अनुशासन हमारे लिए अरण्य-रोदन ही सिद्ध होगा। और हम एक राष्ट्र के रूप में बौने ही बने रहेंगे।

आत्माराम के संस्मरण (१९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

कनखल – बाबा मथुरादासजी (१९२२)

संन्यासी उन दिनों कनखल में रहता था। सेवाश्रम के ग्रन्थालय का विकास करने में लगा हुआ था। उन दिनों सेवाश्रम में करीब ५० पुस्तकें मात्र थीं। संन्यासी ने पुराने अखबार तथा मासिक पत्रिकाओं के विज्ञापन वाले पृष्ठों को बेचकर आठ आने पैसे की व्यवस्था की। इसके बाद उसने दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं को पत्र लिखकर उनकी मुफ्त प्रतियों की व्यवस्था की। कुल मिलाकर लगभग ४० पत्र-पत्रिकाएँ आने लगीं और कुछ पुस्तकें भी प्राप्त हुईं। उन दिनों पोस्टकार्ड का मूल्य एक पैसा था।

पुराने अखबारों को बेचकर काफी पैसे आ जाते थे, जो पत्र-व्यवहार तथा पुस्तकें खरीदने के काम आ जाते। न्यायमूर्ति सर जॉन वुडरोफ को पत्र लिखने पर उन्होंने तंत्रशास्त्र पर लिखी अपनी सारी मूल्यवान पुस्तकें भेज दीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने संन्यासी से मिशन की सभी शाखाओं के पते भी माँगे थे। संन्यासी ने स्वामी शुद्धानन्दजी के निर्देशानुसार तालिका बनाकर भेज दिया। ये उस समय कुछ दिनों के लिये कनखल आये हुए थे।

बाबा मथुरादास सेवाश्रम से बड़ा प्रेम करते थे और बीच-बीच में आते भी रहते थे। उनके आने पर केले के पत्ते में या चिलम में तम्बाकू सजाकर उन्हें दिया जाता था। दो-तीन कश लगाने के बाद ही वे उसे फेंक देते। इतने से ही उनका धूम्रपान हो जाता। वे पूरी तौर से दिगम्बर (नग्न) रहते थे – पाँच-छह वर्ष के बालक की भाँति निर्विचार। कल्याणानन्दजी के निर्देश पर संन्यासी ने उन्हें दो बार कौपीन पहना दिया था। इस पर वे बोले – "अरे, क्या होगा, क्या होगा?" दो-एक दिनों के बाद जब आये, तो कौपीन नहीं था। पूछने पर बोले – "भाई, पता नहीं कहाँ गिर गया।"

एक दिन उसी प्रकार आये थे और लाइब्रेरी के बरामदे में बेंच पर बैठकर केले के पत्ते की चिलम में तम्बाकू पी रहे थे। एक साधु तथा एक ब्रह्मचारी लाइब्रेरी के कार्य में संन्यासी की सहायता कर रहे थे। संन्यासी उनसे कहने लगा – "इसी प्रकार सर्व-परिग्रह-शून्य दिगम्बर साधु का जीवन ही आदर्श है। कितने आनन्द में हैं ये !" यह बात सुनते ही वे बोल उठे – "अरे, यह तुम लोगों के लिये नहीं है। नागा लोगों के समान चेष्टा करके नग्न रहने से कोई लाभ नहीं। अपने आप गिर जाय, तभी ठीक है। (थोड़ा रुककर) जैसे मेरा अपने आप ही छूट गया है। उत्तरकाशी में रहते समय ऐसी अवस्था हुई थी, जो पाँच-छह महीने तक रही। देह का कोई बोध नहीं था। एक गुफा में पड़ा रहा। एक निर्मला सन्त ने देखा और खूब सेवा की। शरीर फट गया था, खून निकलता था। वह मक्खन तथा घी लाकर रूई से फटे हुए स्थानों में भर देता। उसके बाद ठण्ड नहीं लगती, कपड़ों की भी जरूरत नहीं पड़ती। तब वह गुफा से गंगा के घाट पर स्थित शिव-मन्दिर में ले आया। तब थोड़ा-थोड़ा होश आने लगा था। बातें समझता था, कुछ बोल नहीं पाता था।

"बम्बई के कोई सेठ-सेठानी गंगोत्री जा रहे थे। उन लोगों ने वह अवस्था देखी और उन निर्मला साधु से सारी बातें पूछीं। वे लोग गंगोत्री न जाकर वहीं ठहर गये। दोनों मिलकर दोनों समय घी की मालिश करते थे। इसीलिये कहता हूँ कि प्रयास के द्वारा ऐसा करने मत जाना। तुम लोगों का यह मार्ग नहीं है।"

स्वामी कल्याणानन्दजी तथा निश्चयानन्दजी संन्यासी से ये बातें सुनकर बोले – "यह तो उन्होंने निर्विकल्प समाधि के लक्षण बताये। तुम उनसे बातें निकाल लेते हो। हम लोगों को तो वे ये सब बातें कभी नहीं बताते।"

सच्चा वेदान्ती निर्भय होता है

संन्यासी उस दिन भी ग्रन्थालय में कार्य कर रहा था। बाबा मथुरादास आये और तम्बाकू देने पर बाहर के बेंच पर बैठकर पीने लगे। दो-तीन साधु-ब्रह्मचारी भी कार्य में संन्यासी की सहायता कर रहे थे। सच्चे वेदान्ती के स्वभाव के विषय में चर्चा चल रही थी। संन्यासी कई सुने हुए दृष्टान्तों के माध्यम से कह रहा था कि सच्चा वेदान्ती निर्भय होता है। बाबा मथुरादास बोले – "यह ठीक कहता है। एक बार मैं कुछ समय तक बिल्वकेश्वर मन्दिर (हरिद्वार) में रहता था। उन दिनों उधर खूब जंगल था। कभी-कभार कोई दर्शनार्थी आ जाता था।

एक दिन संध्या के समय एक साधु जंगल के मार्ग से वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने पूछा – "रात में यहाँ रहा जा सकता है क्या?" मैंने कहा – "मौज से रहो।" इसके बाद उन्होंने

पूछा – "भोजन की क्या व्यवस्था है?" मैंने बड़े आँवले के पेड़ की ओर इशारा कर दिया। उन दिनों आँवले ही खाकर रहता था। वे बोले – "इससे तो काम नहीं चलेगा।" वे आसन रखकर शहर में खाने चले गये।

खा-पीकर लौटते समय रात थोड़ी अधिक हो गयी थी। चाँदनी रात थी। वे मन्दिर के बाहर जाकर लघुशंका के लिये बैठे थे। देखा कि सामने की झाड़ी में एक बाघ बैठा हुआ है। उसकी आँखों से आँखें मिलते ही वे – "दौड़ो, दौड़ो, बाघ, बाघ" – कहकर चिल्लाते हुए किसी प्रकार दौड़कर मन्दिर में घुस गये। मैं उस समय उनके वैसे आचरण पर खूब खिलखिला कर हँस रहा था। यह देखकर वे आगबबूला होकर बोले – "यह क्या साधु का कार्य है! कहाँ तो तुम सहायता करने के लिये दौड़ोगे! उसकी जगह तुम हँसे जा रहे हो। सोचा था कि तुम महात्मा हो, परन्तु अब देखता हूँ कि तुम दुरात्मा हो। यह आचरण साधु-जैसा नहीं है।"

और भी बहुत-कुछ कहा था। मैं चुप रहा। सुबह स्नान आदि करने के बाद वे ग्रन्थ पढ़ने बैठे। देखा कि वे (वेदान्त-विषयक) 'विचार-सागर' पढ़ रहे हैं। पाठ हो जाने के बाद, वे जाने के लिये तैयार होकर बोले – "रात में थोड़ी कड़ी बातें कह गया था। उसका कुछ बुरा मत मानना। कोई विपत्ति में पड़ा हो, तो उसकी सहायता करने जाना ही साधु का धर्म है, परन्तु तुम्हारा आचरण असाधु के समान था।"

मैंने केवल इतना ही पूछा – "आप कौन-सी पुस्तक पढ़ रहे थे?" – "विचार-सागर।" – "ओह, तो आप वेदान्ती हैं! वेदान्ती हैं!" इतना कहते ही उन्होंने अपनी भूल समझ ली और पाँव पकड़कर क्षमा माँगने लगे। वेदान्ती के लिये मृत्यु तुच्छ है, अत: वह निर्भय होता है – आत्मस्वरूप का बोध होने पर तो कोई बात ही नहीं है।"

इतना कहकर बाबाजी हँसते हुए चले गये।

डकैतों की लीला

सतीकुण्ड के पास एक नये आश्रम में डकैती पड़ी थी। डकैत वृद्ध दण्डी स्वामीजी को मारकर सब लूट ले गये थे। पुलिस के लोग बड़े स्वामी (कल्याणानन्दजी) को गवाह होने के लिये बुलाकर ले गये थे। संन्यासी ग्रन्थालय के बरामदे में बैठा था। देखा कि बाबा मथुरादास जी आ रहे हैं और बीच-बीच में हँस भी रहे हैं। (उन दिनों वे सतीकुण्ड के किनारे पलाश के जंगल में पलाश के पत्ते एकत्र करके उसी के ऊपर रात में विश्राम किया करते थे। उन दिनों कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। शीतकाल की ठण्डी हवाओं के बीच नग्न देह में वे उसी प्रकार निवास करते थे।)

संन्यासी – "महाराज, आज आप बार-बार हँस क्यों रहे हैं? कृपा करके हमें बताइये, ताकि हम लोग भी आपके आनन्द में भागीदार बन सकें।"

बाबाजी – "अरे, कल रात बड़ा मजा हुआ। वहीं सती-कुण्ड के किनारे पेड़ के नीचे लेटा था। देखा कि चोरों का एक दल कहीं से चोरी करके माल ले आया और वहीं बैठकर बँटवारा करने लगा। मशाल की रोशनी में उन लोगों ने मुझे देख लिया। इसके बाद दो लोगों ने आकर मुझसे पूछा – 'तू कौन है?' मैं भला क्या जवाब देता! तब उनमें से एक मेरे गाल पर दो थप्पड़ मारकर चला गया। क्या माया है!"

संन्यासी – "महाराज, बिना किसी अपराध के आपको मारा। इस पर आपको क्रोध नहीं आया?"

बाबाजी – "अरे, किस पर करूँ? किस पर करूँ?" इस प्रकार दो बार कहकर वे हँसते हुए चले गये। उस दिन उनका तम्बाकू पीना नहीं हुआ।

ब्रह्मज्ञ पुरुष थे, इसलिये वे – 'तू कौन है?' – इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके थे। वह प्रश्न करने पर 'मैं मथुरादास हूँ' – कहकर परिचय देने में उस समय वे असमर्थ थे। 'अहं ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूँ' – इस भाव में तन्मय चित्त के लिये सहसा दैहिक आत्म-परिचय दे पाना सम्भव नहीं हो सका। थप्पड़ मारने से उसे क्रोध रूप प्रतिक्रिया भी नहीं हुई। "किस पर करूँ?" – उनकी इस उक्ति में भी सर्वात्म-भाव की परिपुष्टि दीख पड़ती है – जो मार रहा है, वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है – यह बोध पक्का हो जाने के कारण क्रोध की कोई सम्भावना ही कहाँ है?

स्वामी कल्याणानन्दजी और निश्चयानन्दजी ये बातें सुनकर आनन्दित होकर बोले – "सर्वदा ब्रह्म-भावस्थ रहते हैं, इसीलिये यह बात कही।"

संन्यासी – "परन्तु महाराज, चोर लोग तो चोरी करके आये थे, आपस में बँटवारा कर रहे थे। आकर इनसे पूछा – 'तुम कौन हो?' सब कुछ देख रहे हैं, तो भी 'तुम कौन हो?' इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हो गये; और मारा, इसका ज्ञान भी है, तथापि उसकी जो प्रतिक्रिया हुआ करती है, वह नहीं हुई। बोले – "क्रोध किस पर करूँ?"

मानो सब चैतन्यमय देख रहे हैं। यह तो ठाकुर के उस दर्शन के समान लगता है, जिसमें उन्हें नाम-रूप-क्रिया के दर्शन के साथ-साथ चैतन्य-दर्शन की अनुभूति भी होती थी।

दोनों स्वामीजी – "हाँ, ऐसा ही प्रतीत होता है।"

संन्यासी – "तो फिर सर्वं ब्रह्म में नाम-रूप-क्रिया अबाधित रहता है। ब्रह्मस्थ या समाधिस्थ अवस्था में उसका अभाव रहता है – उस समय केवल ब्रह्म का ही बोध होता है। तो महाराज, यह तो अचिन्त्य-भेदाभेद या फिर विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के समान अनुभूति हुई!"

कनखल की एक अन्य घटना

इन्हीं दिनों कनखल में एक अन्य घटना हुई। चारों ओर डकैतियाँ हो रही थीं। अत: सेवाश्रम में भी रात के समय

पहरे की व्यवस्था की गयी थी। साधु, ब्रह्मचारी तथा सभी कर्मचारी लोग रात के १० बजे से भोर में ५ बजे तक चार-चार लोगों की टोली बारी-बारी से पहरा देती थी। प्रथम पर्व में संन्यासी तथा अन्य तीन लोग पहरे पर थे। प्रतिदिन रात को १२ बजे तक स्वामी निश्चयानन्दजी स्वयं हिसाब लिखा करते थे। उन दिनों सेवाश्रम में एक नये वार्ड का निर्माण चल रहा था। इसलिये रुपये भी रखे हुए थे। इसलिये चिन्ता भी थी। चिन्ता उस दिन अधिक हुई, जिस दिन नहर के पास वृन्दावन के स्वामी केशवानन्दजी के आश्रम में लूट हुई। वहाँ साधुओं पर प्रहार भी हुआ था और वे लोग चिकित्सा के लिये सेवाश्रम में आये थे। किसी की प्राणहानि नहीं हुई थी, परन्तु दो-तीन जन को काफी चोट आयी थी। उन लोगों ने पहले विरोध किया था, परन्तु बाद में कालिकानन्दजी (जो उस समय वहीं पर ठहरे हुए थे) के निर्देश पर सभी लोग कमरे खोलकर बाहर आ गये और उन लोगों को यथेच्छा लूटने दिया। विरोध करने से प्राण चले जाते।

संन्यासी ग्रन्थालय का कार्य करता था। प्रिय महाराज (स्वामी परमात्मानन्द) ऋषीकेश से बीमार होकर आये हुए थे। वे ग्रन्थालय में ही लेटे थे। सहसा आत्म-प्रकाश के सत्र की ओर से शोरगुल तथा दौड़भाग की आवाज आने लगी। सुनते ही मिलिटरी मैन निश्चयानन्दजी महाराज उठ खड़े हुए और उनके कमरे के कोने में जो बन्दूक रखी रहती थी, उसे लेने गये। देखा कि वहाँ बन्दूक नहीं है। बोले – "अरे, बन्दूक कौन ले गया?" पूज्य कल्याणानन्दजी ठीक उनके बगल के कमरे में ही रहते थे।

स्वामी निश्चयानन्दजी ने चिल्लाकर पूछा – "बन्दूक तुमने लिया है क्या?"

उत्तर मिला – "हाँ, मेरे पास ही है।"

– "जल्दी से दे दो। लगता है कि आत्म-प्रकाश के सत्र की ओर डकैत आ गये हैं। जल्दी करो।"

– "कह तो रहा हूँ – मेरे पास है, चिन्ता की कोई बात नहीं।"

– "अरे, तुम्हारे पास कमरे में रहने से क्या काम आयेगा। जल्दी से मुझे दे दो।"

– "वही तो कह रहा हूँ, मेरे पास तैयार रखा है।"

पूज्य निश्चयानन्दजी ने संन्यासी से कहा – "जाओ, पीछे के दरवाजे से जाकर बन्दूक देने के लिये कहो।"

जाकर कहने पर उत्तर मिला – "मेरे पास है।"

संन्यासी ने लौटकर बताया – "महाराज, वे अपने ही हाथ में रखना चाहते हैं, इसीलिये ऐसा जबाब दे रहे हैं।"

– "देखो तो, कैसी आफत है!"

इसके बाद वे संन्यासी को बरामदे में ही लाठी लेकर बैठे रहने को कहकर, स्वयं एक बल्लम लेकर सेवाश्रम के दो छोकरे नौकरों को साथ लेकर दौड़ते हुए चले गये। तीन-चार लोग बैठे रहे। वे शीघ्र ही हँसते-हँसते लौट आये और बोले – "अरे, (मोचियों की बस्ती में) वे लोग शराब पीकर आपस में मारपीट कर रहे थे। जरा-सा डाँटते ही सब चुप हो गये। जाकर बड़े स्वामीजी को बता दो।"

संन्यासी ने पीछे की खिड़की पर जाकर जोर की आवाज में सूचित किया। बोले – "देखते हो न, इन मूर्खों ने कैसा भय पैदा कर दिया था! परन्तु दरवाजा तब भी नहीं खोला।

इधर हॉल में प्रिय महाराज (परमात्मानन्द) ने दरी का आधा भाग खींचकर अपने को सिर से पाँव तक ढँक लिया था। और बिना कोई आवाज किये चुपचाप लेटे हुए थे। संन्यासी ने उन्हें देखते ही कहा – "ओ प्रिय महाराज, यह क्या कर रहे हैं? उठिये, डकैत नहीं हैं।"

यह बात सुनकर भी वे "गों, गों' – कर रहे थे। संन्यासी द्वारा पूज्य निश्चयानन्दजी महाराज को यह बात सूचित करने पर वे तथा ५-६ जन साधु-ब्रह्मचारी तथा नौकर भीतर आये। सबके हाथ में लाठी थी।

निश्चयानन्दजी उनसे बोले – "मुख खोलो और उठ जाओ।" और संन्यासी से बोले – "दरी को खींच कर हटा दो। बस!"

वे चिल्ला उठे – "मैं नहीं, मैं नहीं, मैं नहीं।"

इस पर निश्चयानन्दजी – "हाँ, तुम्हीं, तुम्हीं, तुम्हीं।"

सब लोग खूब हँसने लगे।

सुबह हो चला था। सभी लोग अपना पेट पकड़-पकड़ कर हँस रहे थे और 'मैं नहीं, मैं नहीं' – बोल रहे थे।

सुबह होते ही प्रिय महाराज वापस ऋषीकेश चले गये।

❖ (क्रमशः) ❖

अन्तिम विजय

स्वामी सत्यरूपानन्द

जब से इस सृष्टि की रचना हुई है, कदाचित् तभी से देवों और असुरों का संग्राम अविरल चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। कभी देव पक्ष विजयी प्रतीत होता है, तो कभी असुर पक्ष प्रबल दीख पड़ता है। इस देव असुर संग्राम का अन्तिम निर्णय असम्भव है। जब तक सृष्टि है तब तक विजय-पराजय का यह अनन्त क्रम चलता ही रहेगा।

इस घटनाचक्र में एक बार असुरगण देवताओं से पराजित हो गये थे। कुछ काल के लिये उनकी शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु पराजय की पीड़ा ने असुरों को अधिक दिन तक निष्क्रिय न रहने दिया। असुर सूरमा वृत्रासुर ने शतक्रतु इन्द्र के वर्चस्व पर अधिकार करना चाहा।

विजय-मद में इन्द्र असावधान हो गये थे। इस अवसर का लाभ उठाकर वृत्रासुर ने पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया तथा उसके विशेष गुण – गन्ध का उपभोग करने लगा। वृत्रासुर द्वारा गन्ध का अपहरण कर लिये जाने के कारण समस्त पृथ्वी दुर्गन्ध से परिव्याप्त हो गई। इस दुर्गन्ध से इन्द्र को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कुपित हो कर वृत्रासुर पर अपने अमोघ अस्त्र वज्र का प्रयोग किया। वज्र प्रहार से वृत्रासुर व्याकुल हो उठा तथा प्राण त्राण के लिये वह जल में जा समाया। वहाँ उसने जल पर अपना अधिकार कर लिया तथा वहाँ रहकर जल के सार तत्त्व रस को ग्रहण करने लगा। इस प्रकार जल पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया।

जल पर असुर का अधिकार देखकर देवराज इन्द्र बड़े क्षुब्ध हुये तथा रोषपूर्वक उन्होंने पुन: अपने भीषण वज्र से वृत्रासुर पर प्रहार किया। वज्र की मार से वृत्रासुर व्याकुल हो उठा। प्राणरक्षा के लिये वह भाग चला। भाग कर वह अब तेजस् तत्त्व में समा गया। इस प्रकार उसने तेजस् पर अधिकार कर लिया। अब उसने तेजस् के विषय रूप का हरण प्रारम्भ कर दिया। तेजस् पर असुर का अधिकार एवं उसके द्वारा तेजस् के विषय का उपभोग देखकर इन्द्र बड़े क्रोधित हुये। क्रोध में भरकर उन्होंने फिर से वृत्रासुर पर अपना भीषण वज्र चलाया। वज्र के भीषण आघात से वृत्रासुर पुन: अधीर हो गया तथा वहाँ से भाग चला। भागता हुआ वह वायु में प्रविष्ट हो गया तथा उस पर उसने अपना अधिकार जमा लिया। वायु पर अधिकार करके उसने उसके विषय – स्पर्श का उपभोग प्रारम्भ कर दिया। वृत्रासुर की यह धृष्टता देख इन्द्र बड़े ही कुपित हुये तथा पुन: उन्होंने उस पर पुन: वज्र-प्रहार किया।

वहाँ भी प्राणत्राण न पाकर वृत्रासुर वायु से भाग कर आकाश में जा छिपा। आकाश में छिपकर उसने उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। और आकाश के सार तत्त्व – शब्द को ग्रहण करने लगा। वृत्रासुर की इस धृष्टता ने इन्द्र की क्रोधाग्नि में घी का कार्य किया। क्रोध से जलते हुये इन्द्र ने वृत्रासुर पर भीषण रूप से वज्र का प्रहार किया।

वज्र की मार से आहत वृत्रासुर को अब छिपने के लिये स्थान शेष न रहा। अवसर पाकर सहसा वह स्वयं इन्द्र की देह में समा गया। वहाँ समाकर उसने उनके अन्त:करण पर अधिकार कर लिया। अन्त:करण पर वृत्रासुर का अधिकार होते ही इन्द्र विमोहित हो गये। मोहाच्छन्न इन्द्र आत्म-विस्मृत हो गये। उनका विवेक लुप्त हो गया। वज्र विफल हो गया। अब वे पूर्णत: वृत्रासुर के अधीन हो गये।

देवराज इन्द्र में अब यह सामर्थ्य न रह गई कि वे वृत्रासुर का प्रतिकार कर सकें। इन्द्र की यह दयनीय दशा देखकर महर्षि वशिष्ठ को बड़ी दया आई। करुणा-विगलित ऋषि ने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि वे इन्द्र का उद्धार करेंगे और उन्हें पुन: इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित करेंगे।

किन्तु इस महत् कार्य के सम्पादन के लिये वृत्रासुर का नाश आवश्यक था। वृत्रासुर का नाश केवल इन्द्र के हाथों, इन्द्र के वज्र द्वारा ही सम्भव था। किन्तु इन्द्र तो असुर द्वारा मोहाच्छादित कर दिये गये थे। वे आत्मविस्मृत कर दिये गये थे। अत: सर्वप्रथम कार्य था – इन्द्र को मोह-निद्रा से जागृत करना। ऋषि ने इन्द्र के मोह का नाश करने का निश्चय किया। मन्त्रसिद्ध ऋषि ने रथन्तर साम का गायन प्रारम्भ किया। इस आह्वान से इन्द्र की चेतना लौटी। वे सजग हो गये। सजग होने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वृत्रासुर अब बाहर नहीं है, वह तो उनके भीतर प्रविष्ट हो गया है। अत: अन्तस्थ शत्रु का बाह्य वज्र के द्वारा संहार सम्भव नहीं।

आन्तरिक शत्रु को आन्तरिक शस्त्र के द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। इन्द्र ने अब वृत्रासुर पर आन्तरिक अदृश्य वज्र से आघात किया। इस अदृश्य वज्र के मर्मान्तिक आघात से बच पाना वृत्रासुर के लिये सम्भव न था। इस आघात से वृत्र अपनी रक्षा न कर सका और उसका विनाश हो गया।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। अनेक स्वजन-स्नेही, बन्धु-बान्धव आदि युद्ध की ज्वाला में भस्मीभूत हो

चुके थे। बाहर के सभी शत्रुओं का नाश हो चुका था, किन्तु विजयी सम्राट् – युधिष्ठिर अस्थिर और अशान्त थे। उनका शोक-सन्तप्त हृदय जल रहा था। शोक के अन्धड़ में उनका विवेक-दीप बुझ चुका था। महासमर महाभारत के विजयी युधिष्ठिर अपने मन के सम्मुख पराजित हो गये थे। मोहाच्छन्न होकर वे राज्य-कार्य से विरत होना चाहते थे। जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह भीषण नरमेघ हुआ था, वही विफल हो रहा था।

और तब युधिष्ठिर को कर्त्तव्य स्थिर करने के लिये भगवान् वासुदेव ने उपर्युक्त कथा सुनाई थी। कथा सुनकर युधिष्ठिर सचेत हुये थे तथा उन्होंने ज्ञान-खड्ग से इस मोह-रिपु का नाश करके अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।

जीवन के महासमर में हम सभी को विजय तथा पराजय का अनुभव होता रहता है। हममें से अधिकांश विजय और पराजय दोनों ही स्थितियों में मोहाच्छन्न हो जाते हैं। हमारे मोहाच्छन्न होते ही अज्ञानरूपी वृत्रासुर सक्रिय हो उठता है। सक्रिय हो कर वह हमें रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि के जाल में फँसाना चाहता है। इन गुणों का आस्वादन करने वाली इन्द्रियों के आवेगों को प्रबल करके, वह उन पर से विवेक-रूपी इन्द्र का अधिकार समाप्त करने का प्रयत्न करता है। विवेक यदि बलपूर्वक किसी एक इन्द्रिय में उसका दमकरता है तो वह वहाँ से भागकर दूसरी इन्द्रिय में समा जाता है तथा उस इन्द्रिय के द्वारा विवेक-रूपी इन्द्र की शक्ति को क्षीण करने का प्रयत्न करता है। श्रेय से प्रेय की ओर, त्याग से भोग की ओर ले जाने वाले इस असुर से बलपूर्वक संघर्ष करते-करते कभी-कभी विवेक शिथिल पड़ जाता है। उसके शिथिल पड़ते ही अज्ञान रूपी वृत्रासुर उस पर अपना अधिकार कर लेता है। एक बार अज्ञान के अधिकार में आ जाने पर विवेक की स्वयं-चेतना लुप्त हो जाती है। प्रतिकार करने का उसका सामर्थ्य शेष हो जाता है।

ऐसे समय में किसी महर्षि वशिष्ठ की आवश्यकता पड़ती है, जो मोहाच्छन्न विवेक-रूपी इन्द्र का आह्वान कर उसे जागृत करे तथा प्रखर ज्ञान रूपी अदृश्य वज्र के द्वारा अन्तस्थ अज्ञान-रूप वृत्रासुर के संहार की प्रेरणा दे।

प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक, प्रत्येक कृष्ण और बुद्ध, प्रत्येक महा-पुरुष वह ऋषि वशिष्ठ है, जो मोहित विवेक-रूपी इन्द्र का आह्वान कर उसे अज्ञान-असुर के नाश करने की प्रेरणा दे रहा है। इन महान् विभूतियों द्वारा दिया गया उपदेश ही वह वज्र है, जिसके द्वारा अज्ञान-रूपी वृत्रासुर का संहार किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तिम विजय हमारी हो सकती है।

❑❑❑

पुरखों की थाती

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत् तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ।।

– यदि कोई बालक भी युक्तिसंगत बात कहता हो, तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये और यदि ब्रह्मा भी कोई अयुक्तिसंगत बात कहें, तो उसे तृण के समान त्याग देना चाहिये।

अल्पानां अपि असाराणां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैः विधीयते रज्जुः यया नागोऽपि बध्यते ।।

– संख्या में कम भी हों और दुर्बल भी हो, तो भी उनकी एकता से महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। घास के तिनकों को जोड़कर वह रस्सी बनती है, जो हाथी तक को बाँधने में समर्थ होती है।

परोपकार-कारिण्या परार्ति-परितप्तया।
बुद्ध एक सुखी मन्ये स्वात्म-शीतलया धिया ।।

– जो व्यक्ति परोपकारी है, परदुःख से दुखी है और अन्तरात्मा की शीतल बुद्धि के द्वारा ज्ञानी है, उसी को मैं सुखी मानता हूँ।

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीर्विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
दृष्ट्वोन्मादयत्येका पीता चान्यातिसंचयात् ।।

– नारी, मदिरा तथा धन – ये तीन प्रकार के मद्य होते हैं। इनमें से एक तो देखने मात्र से, दूसरा पीने से और तीसरा अति-संचय से उन्मत्त बना देता है।

दुःसाध्यो वासना त्यागः सुमेरुन्मूलनादपि ।।

– वासना-कामना का त्याग करना सुमेरु पर्वत को उखाड़ने से भी अधिक कठिन है। (योग-वाशिष्ठ)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१४५. देहजनित अभिमान छुड़ावा

चीन के राजा वू ने अपने देश में भगवान बुद्ध के बहुत-से मन्दिर बनाने का बीड़ा उठाया। जो भी सन्त-महात्मा चीन में आते, वह उन्हें अपने बनवाये हुए मन्दिर दिखाता। वे उसे आशीर्वाद देकर कहते कि इस पुण्य कर्म के कारण उसे निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। इससे राजा को गर्व हो गया कि उसके समान पुण्यात्मा दूसरा कोई भी नहीं है।

एक बार बोधिधर्म नामक एक सन्त जब चीन में गये, तो वू ने उनके समक्ष अपने द्वारा निर्मित मन्दिरों तथा किये गये धार्मिक कृत्यों की सूची ही पेश कर दी। उसने सोचा कि बोधिधर्म उसकी खूब प्रशंसा करेंगे। परन्तु उन्होंने कहा कि राजा के लिये मन्दिर-निर्माण कोई पुण्य का काम नहीं, बल्कि यह तो उसका कर्तव्य है। राजा को सन्त की बातें पसन्द नहीं आयीं।

उसने कहा – ''लेकिन अभी तक तो किसी भी सन्त ने ऐसा नहीं कहा।'' सन्त बोधिधर्म बोले – ''वे सन्त तुम्हारे अतिथि होने के कारण तुम्हारे एहसान के बोझ-तले दबे हुये थे। इस कारण उन्होंने तुम्हारे कार्यों की प्रशंसा ही की। रही बात तुम्हारे द्वारा मन्दिर बनाने की, तो यह कार्य तुम वाहवाही लूटने के लिये करते हो। शायद तुम नहीं जानते कि परमार्थ नि:स्वार्थ कार्यों से ही मिलता है। प्रशंसा या किसी अन्य कामना के वशीभूत होकर किये गये धार्मिक कृत्यों से कभी पुण्य नहीं मिलता। लोभ, मोह तथा मद से स्वयं को बचाते हुए, जो व्यक्ति कामनारहित होकर लोकहित के कार्य करता है, उसी को पुण्य तथा मोक्ष प्राप्त होता है।''

१४६. जब झूठ बोलना भी पुण्य हुआ

जयराज नामक एक व्यक्ति हमेशा दीन-दुखियों की सेवा में जुटा रहता था। तन-मन-धन से वह लोगों की सेवा करता था। पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को जब उसके मृत्यु की खबर मिली, तो वे बड़े उदास और दु:खी हुये। उन्हें जब पता चला कि जयराज के घरवालों के पास उसके अन्तिम संस्कार के लिये भी पैसे नहीं है, तब वे उसके घर में गये। उन्होंने जयराज की शोकाकुल पत्नी को ढाढ़स बँधाया और बोले – ''मैंने जयराज से एक हजार रुपये उधार लिये थे, उन्हें लौटाने आया हूँ। कृपया स्वीकार करें।'' विधवा ने रुपये लिये और उससे जयराज का दाह-संस्कार कर दिया।

बाद में जब जयराज की पत्नी को मालूम हुआ कि विद्यासागर ने जयराज से कोई रुपये उधार नहीं लिये थे और उन्होंने मदद करने के इरादे से ही झूठ कहा था, तो उसे बड़ा दु:ख हुआ। वह तत्काल विद्यासागर के घर गयी और उनसे बोली – ''आपने रुपये उधार नहीं लिये थे। तो फिर आपने झूठ क्यों कहा? क्या आप नहीं जानते कि झूठ बोलना पाप है? मैं रुपयों को ऋण मानकर उन्हें अवश्य लौटाऊँगी।'' विद्यासागर बोले – ''आप मेरे द्वारा दिये रुपयों को ऋण न मानें, बल्कि उसे एक भाई द्वारा बहन को दी गई मदद समझे। मैं मानता हूँ कि असत्य बोलना पाप है, पर जब व्यक्ति की भावना अच्छी हो और उसे असत्य का सहारा लेना पड़े, तो वह असत्य पाप नहीं होता।''

१४७. शिष्टाचार अनुशासन का अंग है

महात्मा गाँधी अपनी नतिनी मनुबेन के साथ नोआखाली जा रहे थे। रास्ते में मनुबेन ने कहा – ''बापू, मुझे तो लगता है, यह सुहरावर्दी आपके सुधार के कामों को पसन्द नहीं करता, इसीलिये उसने पत्र लिखकर आपके कार्यों के प्रति नापसन्दगी जाहिर की है।''

गाँधीजी ने सुना और बोले – ''मनु, तुम शायद भूल गई हो कि सुहरावर्दी तुमसे उम्र में काफी बड़े हैं और वे उच्च पद पर आसीन हैं। तो भी तुम उनका उल्लेख एक सामान्य आदमी की भाँति कर रही हो। अंग्रेज भले ही हम पर शासन कर रहे हैं और हमारे जनहित के कामों को वे पसन्द नहीं करते, परन्तु हमें उनसे बहुत-सी बातें सीखनी होंगी। अब शिष्टाचार और अनुशासन को ही लो। इस मामले में हम उनसे बहुत ही पिछड़े हुए हैं। अपने नौकर को काम बताते समय वे 'प्लीज' कहते हैं और काम होने के बाद 'धन्यवाद' कहकर कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे स्कूलों में बच्चों को शिष्टाचार का पाठ पढ़ाया ही नहीं जाता। इस कारण हमारा देश सामाजिक, आर्थिक, व्यावहारिक – सभी दृष्टि से पीछे हैं। किसी भी देश के विकास में उसके नागरिकों का बहुत बड़ा योगदान रहता है और अच्छा नागरिक बनने के लिये व्यक्ति को शिष्टाचार का पाठ पढ़ना होगा। शिष्टाचार अनुशासन का ही एक अंग है और अनुशासन से ही नागरिकता का विकास होता हैं।''

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश
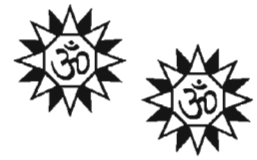
स्वामी लोकेश्वरानन्द

स्वामी विवेकानन्द के एक पाश्चात्य अनुरागी ने उनका वर्णन करते हुए कहा था कि वे 'आयु में कम, परन्तु ज्ञान में असीम थे।' यदि आप इस भावुकतापूण उक्ति को शब्दश: स्वीकार करते हैं, तो यह स्वामी विवेकानन्द के दर्शन की आज के युग में प्रासंगिकता को प्रस्तुत करती है। उनकी आयु अल्प थी, ४० वर्षों से भी कम; पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में ही उनका देहान्त हो गया। तब से दो विश्वयुद्ध हो चुके हैं और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विस्मयजनक विकास हो चुका है। इसके फलस्वरूप पूरी दुनिया बदल चुकी है और साथ ही मनुष्य के दृष्टिकोण तथा जीवन-शैली में भी परिवर्तन आ चुका है। भारत, जो (भगिनी निवेदिता के शब्दों में) 'उनकी उपासना की महारानी थीं', अब एक स्वाधीन राष्ट्र हो चुका है (जैसी कि उन्होंने भविष्यवाणी की थी – अगले ५० वर्षों के भीतर यह देश अत्यन्त अकल्पनीय परिस्थितियों में स्वाधीन हो जाएगा) और सारे विश्व के समान ही भारत भी ऐसी समस्याओं का सामना कर रहा है, जो उनके समय में अज्ञात थीं। तो क्या इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द आज भी प्रासंगिक हैं?

मनुष्य निर्माण – उनका जीवनोद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि हमारे सम्मुख आज कौन-सी समस्याएँ खड़ी हैं, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि हमें किस भाव के साथ उनका सामना करना है। उनका जोर स्वयं मनुष्य पर ही था, क्योंकि सही प्रकार के मनुष्य उपलब्ध हों, तो कोई भी समस्या असाध्य नहीं है। वे कहा करते, "मनुष्य निर्माण ही मेरा जीवनोद्देश्य है।" सचमुच ही किसी भी राष्ट्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी जनता कितनी अच्छी, बुद्धिमान तथा सुयोग्य है। कोई भी राष्ट्र एक या दो महान् व्यक्तियों को पैदा कर सकता है, परन्तु यह इस बात की गारंटी नहीं देता कि वह देश महान् होगा। वह उस देश की क्षमता को सिद्ध कर सकता है, परन्तु जब तक किसी देश के औसत नर-नारी का जीवन-स्तर उच्च नहीं हो जाता, तब तक उस देश को महान् नहीं कहा जा सकता। स्वामीजी कहा करते थे कि एक बुद्ध या एक ईसा ने किसी भी देश के भाग्य का निर्धारण नहीं किया, बल्कि आम जनता ने यह निर्धारित किया कि उस देश का भविष्य क्या होगा। उनके मतानुसार राष्ट्र की सच्ची शक्ति उसकी आम जनता में निहित है। उन्होंने जनता की उपेक्षा को राष्ट्र का एक महान् पाप बताया। उन्होंने कहा कि यही उसकी अधिकांश बुराइयों का कारण है। आम जनता (जिसे उन्होंने 'निद्रामग्न जलदैत्य' कहा था) में अनन्त शक्ति निहित है, परन्तु राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में उन्हें कभी अपनी भूमिका निभाने का अवसर नहीं दिया गया।

विश्वविद्यालय की उपाधियों के आधार पर विशेषाधिकार का दावा करनेवाले, आम लोगों की समस्याओं से पूर्णत: अनभिज्ञ, कुछ मुट्ठी भर तथाकथित बुद्धिजीवी ही राष्ट्र के भाग्य का फैसला करते रहे, जबकि जनता मूक द्रष्टा बनी रही! वस्तुत: वे राष्ट्र की सत्ता में अपनी हिस्सेदारी के विषय में कहीं अधिक चिन्तित थे और उनकी शिकायतों का कारण केवल यह बोध था कि उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार अधिकारों की प्राप्ति नहीं हो रही है। आम जनता की क्या हालत है, कैसे वे ऊँची जातियों द्वारा सताये जा रहे हैं और उनकी निरक्षरता तथा निर्धनता आदि बातों के विषय में उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं थी। इसके बावजूद वे सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में बोलने का दावा करते थे। वे ऐसे रीढ़विहीन लोग थे, जिनकी राष्ट्र या जनता के प्रति कोई निष्ठा न थी, जिनमें इतना भी साहस नहीं था कि स्वयं का या राष्ट्र का अपमान करनेवालों का सामना कर पाते। स्वामी विवेकानन्द ऐसे लोगों पर चिढ़कर उन्हें ऐसे 'चलते-फिरते शव' कहा करते, जो मरने के बाद भी अपने विगत गौरव के चिह्न के रूप में लोगों को प्रभावित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।

आम जनता की उन्नति

भारत की स्वाधीनता के ६० वर्षों बाद, क्या अब भी इस परिदृश्य में कोई बदलाव आया है? अब भी नगरीय मध्य-वर्ग का ही राष्ट्र पर दबदबा है। देश में जो कुछ हो रहा है, उसमें आम जनता को शायद ही कुछ कहने का अधिकार है। यद्यपि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में उनके सम्मिलित होने की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है, तथापि न तो कोई योजना बनाने में और न ही उनके क्रियान्वन में उन्हें कोई भूमिका होती है। अत: राष्ट्र की प्रगति में जो विलम्ब हो रहा है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। अपनी नवीन भारत की परिकल्पना में स्वामी विवेकानन्द ने शूद्रों (अर्थात् श्रमजीवियों) को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाय। उन्होंने कहा कि वे एक समाजवादी हैं, 'इसलिये नहीं कि समाजवाद

एक आदर्श व्यवस्था है, बल्कि इसलिये कि खाली पेट से थोड़ा कुछ भी बेहतर है।' इतिहास की अपनी समझ से उन्हें विश्वास हो गया था कि देर-सबेर क्रान्ति का आना अवश्यम्भावी है। उन्होंने दो देशों का नाम लिया, जहाँ यह सबसे पहले आनेवाली थी – रूस और चीन। यह घटना १८९० वाले दशक में हुई थी। कोई नहीं जानता कि उन्हें कैसे इस बात का अनुमान हो गया था। यह भी कोई नहीं जानता कि उक्त दो देशों में जैसी क्रान्ति हुई, क्या उन्होंने उसका अनुमोदन किया होता !

जहाँ तक भारत का सवाल है, यह स्पष्ट है कि उन्होंने इसके लिये क्रान्ति के स्थान पर विकास को बेहतर माना। क्या उन्हें मालूम था कि क्रान्ति के लिये देश को क्या कीमत चुकानी पड़ती है? यह स्पष्ट है कि वे भारत में हिंसक परिवर्तन नहीं चाहते थे, क्योंकि उन्होंने कहा वे ऊपरवालों को गिराना नहीं, अपितु नीचेवालों को उठाना चाहते हैं। अर्थात् वे चाहते थे कि श्रमजीवियों को इतने अधिक अवसर प्रदान किये जायँ कि वे भी बुद्धिजीवियों के स्तर तक पहुँच जायँ। श्रमजीवियों को ऊपर उठाने के लिये बुद्धिजीवियों को नीचे उतारने की आवश्यकता नहीं है।

शिक्षा द्वारा चरित्र-निर्माण

श्रमजीवियों की काफी काल से उपेक्षा हुई और उन्हें शिक्षित होने का अवसर नहीं मिला। अब उन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये, ताकि वे यथाशीघ्र अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विषय पा सकें। वे लोग शिक्षा पाने के लिये आएँ, इसकी जगह स्वामीजी चाहते थे कि शिक्षा को ही उनके पास पहुँचाया जाय। सही आकलन करते हुए उन्होंने कहा था कि शिक्षा को नि:शुल्क बनाने मात्र से काम न होगा। इसके अतिरिक्त भी प्रोत्साहन देना होगा – शिक्षा को उनके द्वार तक पहुँचाना होगा। और यह शिक्षा न केवल मुफ्त होगी, बल्कि एक प्रबुद्ध कुल के बच्चे के लिये एक शिक्षक की तुलना में एक श्रमजीवी के बच्चे के लिये पाँच शिक्षकों की व्यवस्था करनी होगी। जब मैसूर के महाराजा अपने राज्य में मुफ्त शिक्षा की योजना बना रहे थे, तब स्वामीजी ने उन्हें यही सलाह दी थी। स्वामीजी ने शिक्षा पर काफी बल दिया। वे भारत की सारी बीमारियों के लिये इसी को सर्वरोगहर औषधि मानते थे।

परन्तु शिक्षा किस प्रकार की होगी? निश्चित रूप से यह केवल पुस्तकें पढ़ना, परीक्षाएँ पास करना तथा उपाधियाँ प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं होगी। उनकी दृष्टि में शिक्षा का अर्थ केवल जानकारियाँ देना ही नहीं, बल्कि कुछ और भी सार्थक वस्तु थी। शिक्षा का अर्थ है विचारों को आत्मसात् करना; इसे मनुष्य का निर्माण करनेवाली, जीवन प्रदान करनेवाली तथा चरित्र का निर्माण करनेवाली होनी चाहिये। इसमें कार्यकुशलता भी शामिल होनी चाहिये, ताकि यह उत्पादनशील भी हो। उन्हें इस बात का खेद था कि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था व्यक्ति को अपने पाँवों पर खड़ा होने के योग्य नहीं बना पाती और न ही उसमें स्वाभिमान या आत्मविश्वास जगा पाती है। वे भारत के लिये ऐसी शिक्षा चाहते थे, जिसमें उसके अपने आदर्शवाद के साथ पाश्चात्य कुशलता का सामंजस्य हो। भारत ने अनेक उच्च विचारों को जन्म दिया है, पर उन्हें शायद ही कभी कार्य रूप में परिणत किया गया है। वे इसी कमी को भारत की सारी सामाजिक बुराइयों का कारण मानते थे। इसके उदाहरण के रूप में उन्होंने जातिप्रथा की ओर इंगित किया। श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित यह एक आदर्श संस्था थी। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अधिकतम क्षमता के अनुसार विकास का अवसर देना ही इसका उद्देश्य था, परन्तु जब इसमें ऊँच-नीच का भाव आ गया और यह जन्म पर आधारित हो गया, तब यह पूरी तौर से निरर्थक तथा हानिकारक हो गया। स्वामी विवेकानन्द ने जाति-व्यवस्था की जितनी कठोर भर्त्सना की है, उतनी शायद ही किसी ने की होगी। परन्तु इसका समाधान क्या है? स्वामीजी पुन: कहते हैं – शिक्षा। अच्छी शिक्षा मिलने पर अभी जो लोग पिछड़े हुए हैं, वे स्वयं ही उन्नत हो जाएँगे।

आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा उद्धार

स्वामीजी को आशा थी कि पिछड़े लोगों की उन्नति के लिये समाज जो भी कदम उठाएगा, उच्च वर्गों के लोग उसका स्वागत करेंगे। वे यह भी उम्मीद करते थे कि वे लोग स्वयं ही इस दिशा में आगे बढ़ेंगे और इस विकास को गति देने के लिये आवश्यक बलिदान भी करेंगे। यह पूरी तौर से 'त्याग और सेवा' रूपी भारत के राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप होगा। यदि वे ऐसा करने में असफल रहे, तो यह स्वयं उनके लिये तथा राष्ट्र के लिये हानिकर सिद्ध होगा। इतिहास सिद्ध करता है कि यह चेतावनी आवश्यक थी। जब निहित-स्वार्थवाले लोगों द्वारा सामाजिक परिवर्तनों का प्रतिरोध होता है, तो हिंसा भड़क उठती है। इसीलिये स्वामीजी चाहते थे कि भारत में, जहाँ यह काफी काल से स्थगित है, यह परिवर्तन सहज तथा शान्तिपूर्ण हो। भारत के सुदीर्घ इतिहास को देखें, तो यह देश के भीतरी तथा बाहरी शक्तियों द्वारा बारम्बार आक्रान्त होता रहा है, परन्तु अपने लचीलेपन के कारण हर बार उस संकट पर विजय पा लेता रहा है। उसने अपने मूलभूत आध्यात्मिक स्वरूप को त्यागे बिना ही उन परिवर्तनों को अंगीकार कर लिया। इसी प्रकार वह शताब्दियों तक लगभग वही राष्ट्र बना रहा। नवीन विचारों

को आत्मसात् करने की, नये दबावों के साथ समायोजन करने की, नवीन परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालने की, इस क्षमता के कारण ही यह अपने पूर्ण विनाश को टालने में समर्थ हुआ है। जब-जब उसे संकट की लहरों ने डुबा दिया है, तब-तब वह और भी सबल होकर उभरा है, सम्भवत: एक नये रूप में, परन्तु अपने मूलभूत भावों को सुरक्षित रहते हुए।

स्वामीजी को जैसे श्रमिक-वर्ग के उत्थान का पूर्वानुमान हुआ, वैसे ही उन्हें आशंका थी कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक स्तर में गिरावट आएगी। बाद में जिन देशों में क्रान्तियाँ हुईं, उनके प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि स्वामीजी ने ठीक ही कहा था। भारत में भी कहीं ऐसा न हो, इसीलिये स्वामीजी चाहते थे कि जिस समय श्रमिक-वर्ग के उत्थान के लिये जमीन तैयार हो रही है, उसी समय आम जनता को भारत की आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार शिक्षित करने पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिये। उन्होंने आवाहन किया – "देश में आध्यात्मिक भावों की बाढ़ ला दो।" खास कर कौन-से भावों की बात उनके मन में थी? स्पष्टत: – सत्य, न्याय, प्रेम, शान्ति, समन्वय आदि के वे ही आदर्श, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इन आदर्शों ने भारतीय मानस को हिंसा के प्रति एक सहज विरोध-भाव से परिपूर्ण कर दिया है। स्वामी विवेकानन्द इस बात को लेकर बड़े चिन्तित थे कि उनके द्वारा पूर्वदृष्ट सामाजिक परिवर्तन भारतीय परम्पराओं को हानि पहुँचाने के स्थान पर, उनका संरक्षण करे। इन परम्पराओं का संरक्षण उनकी पहली प्राथमिकता थी। उन्हीं में भारत की शक्ति निहित है। जब तक भारत ने इन परम्पराओं में निष्ठा रखी, तब तक वह सुरक्षित रहा। भारत को न केवल अपने, बल्कि दुनिया की विरासत के रूप में भी इन परम्पराओं को सुरक्षित रखना होगा। भारत ने हजारों वर्षों से जिन परम्पराओं का विकास तथा संरक्षण किया है, वैसी परम्पराएँ दुनिया के किसी भी देश में नहीं हैं।

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के द्वारा विकास

स्वामी विवेकानन्द का चित्त भारत की निर्धनता से व्यथित था। भारत के ग्रामीण अंचलों का भ्रमण करते समय उन्होंने लोगों के कष्ट तथा पीड़ाएँ देखीं। परन्तु साथ ही वे लोगों के सद्गुणों को देखकर अभिभूत भी हुए थे। वे अंग्रेज लोगों से केवल इस कारण घृणा करते थे कि उन लोगों ने योजनाबद्ध रूप से राष्ट्र के धन का शोषण कर लिया था। वे तथाकथित कुलीन भारतवासियों की स्वार्थपरता तथा अपने देशवासियों की हालत के प्रति उदासीनता के कारण, उनसे भी कम घृणा नहीं करते थे। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे यथासम्भव उन लोगों के सान्निध्य से बचने का प्रयास करते थे।

परन्तु निर्धनता की समस्या को कैसे हल किया जाय? उन्हें लगा कि विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में ही इस समस्या का समाधान निहित है। भारत को अपने देश में एक औद्योगिक क्रान्ति लाने के लिये पाश्चात्य विज्ञान तथा तकनीकी का व्यापक रूप से प्रयोग करना होगा। उन्होंने देखा था कि किस प्रकार पाश्चात्य देशों ने विज्ञान तथा तकनीकी की सहायता से निर्धनता पर विजय प्राप्त कर ली है। एशिया में जापान ने भी वैसा ही कर दिखाया था। वे चाहते थे कि निर्धनता के खिलाफ संघर्ष में भारत पश्चिम के पदचिह्नों का अनुसरण करे, परन्तु अन्य किसी भी क्षेत्र में वह पश्चिम की नकल न करे।

भारतीय जीवन-पद्धति

स्वामीजी पश्चिमी देशों की भौतिक समृद्धि से प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने यह भी देख लिया था कि इसने किस प्रकार उनके नैतिक दृष्टिकोण को भोथरा कर दिया था। वे चाहते थे कि भारत भी वैसी ही भौतिक समृद्धि हासिल करे, परन्तु साथ ही नैतिक आदर्शों के प्रति अपने लगाव को बनाये रखे। पश्चिम के लोगों में इन्द्रिय-सुखों के प्रति एक तरह का पागलपन था, जो स्वामीजी को पसन्द नहीं आया। वे भौतिक समृद्धि तथा गहन नैतिक संवेदनशीलता का समन्वय देखना चाहते थे। भारत के सम्पूर्ण इतिहास में भारत का यही मार्ग रहा है।

स्वामी विवेकानन्द का कोई भी उपदेश पुराना नहीं पड़ा है। उन्होंने आधुनिक विचारों का प्रचार किया, परन्तु वे एक दूरदृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति थे; उनके लिये न तो केवल तात्कालिक विश्व महत्त्वपूर्ण था और न ही आनेवाला सुदूर भविष्य। उनकी मनुष्य से सम्बन्धित हर विषय में – न केवल धर्म, बल्कि विज्ञान, कला, साहित्य, इतिहास, राजनीति में भी रुचि थी। इन कुछ विषयों पर भी उनके विचार युगान्तरकारी थे। उदाहरणार्थ वे चाहते थे कि भारत में एक जाति-वर्ग से रहित समाज हो। उनका कहना था कि यह समाज इस्लामी शरीर तथा वेदान्ती बुद्धि वाला हो। इस्लाम में जाति-वर्ग का भेद स्वीकार नहीं किया जाता और इस मामले में वे इस्लाम के प्रशंसक थे। परन्तु उनके मतानुसार समाज को आदर्श होने के लिये उसे केवल जाति-वर्गहीन होना ही काफी नहीं था, बल्कि उसे वेदान्त में प्रतिपादित आध्यात्मिक विकास की ओर भी दृष्टि रखनी होगी। इसीलिये वे एक ऐसे समाज के हामी थे, जो इस्लामी लक्षणवाला होगा, परन्तु साथ ही उसमें अधिकतम आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया जाएगा।

वर्तमान में भारत के सामने कई समस्याएँ हैं – निर्धनता, निरक्षरता, जातिवाद तथा एकता का अभाव। परन्तु ये कोई

नई समस्याएँ नहीं हैं। इनका स्वामीजी के समय में भी अस्तित्व था। उन्होंने इन पर काफी विचार किया और उनके समाधान के विषय में अपने विचार व्यक्त किये, जो सदा के लिये उपयोगी हैं। वे किसी के द्वारा पूर्व निर्दिष्ट समाधान के नहीं, बल्कि ऐसे समाधानों के पक्षधर थे, जो इतिहास तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निकाले गये थे। उन्हें दूसरे देशों का अनुकरण भी पसन्द नहीं था। प्रत्येक देश को अपने ढंग से, अपनी प्रतिभा की सहायता से अपनी समस्याओं से निपटना होगा। उन्होंने लोगों की इच्छा-शक्ति, सही दृष्टिकोण तथा चरित्र पर बल दिया। वर्तमान समस्याएँ हल हो सकती हैं, परन्तु शीघ्र ही अन्य समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। बिना समस्याओं के जीवन ही अकल्पनीय है। परन्तु ये गुण आ जायँ, तो फिर कोई भी समस्या कठिन नहीं रह जाएगी।

स्वामी विवेकानन्द की कार्ययोजना

स्वामी विवेकानन्द ने तीन भविष्यवाणियाँ की थीं, जिनमें से दो सत्य सिद्ध हो चुकी हैं। इनमें से पहली तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी भारत की स्वाधीनता के विषय में। १८९० के दशक में ही उन्होंने कहा था, "भारत अकल्पनीय परिस्थितियों के बीच अगले पचास वर्षों में ही स्वाधीन हो जाएगा।" ठीक ऐसा ही हुआ। जब उन्होंने यह बात कही, तब कुछ ही लोगों ने इस पर ध्यान दिया और शायद ही किसी ने इस उक्ति को महत्त्व दिया हो। उस समय ऐसा होने की कोई सम्भावना नहीं दीख रही थी। अधिकांश लोग अंग्रेजों द्वारा शासित होकर सन्तुष्ट थे। उनके लिये अंग्रेजी राज्य का अर्थ था कानून का शासन, समानता तथा न्याय का शासन। उन दिनों लोगों में शायद की कहीं कोई राजनीतिक चेतना दिखायी पड़ती थी। उन्हें राजनीतिक स्वाधीनता की कोई धारणा न थी। यहाँ तक कि बुद्धिजीवी वर्ग भी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता था कि वह क्या चाहता है। उनमें से कुछ मुट्ठी भर लोग अपने लिये बेहतर कार्य और यदि सम्भव हुआ तो देश के प्रशासन में एक कनिष्ठ हिस्सेदार की भूमिका चाहते थे। उनके मन में स्वाधीन भारत का विचार कभी आया ही नहीं था। उनमें से कुछ लोग तो यहाँ तक सोचते थे कि अंग्रेजों का शासन एक वरदान है। वे चाहते थे कि देश की शान्ति तथा प्रगति के लिये इसे जारी रहना चाहिये। ऐसी पृष्ठभूमि में स्वामी विवेकानन्द ने भविष्यवाणी की कि देश अगले पचास वर्षों के भीतर ही स्वाधीन हो जाएगा।

उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण भविष्यवाणी थी कि रूस में पहली बार श्रमिक-क्रान्ति होगी, जिसके होने या हो सकने के बारे में किसी को कल्पना तक न थी। श्रमिक-क्रान्ति के मुख्य प्रवक्ता मार्क्स का कहना था कि यह वहीं होगा, जहाँ ट्रेड-यूनियन आन्दोलन काफी मजबूत होगा। इसी आधार पर उन्होंने कहा कि यह जर्मनी में होगा। तथापि मार्क्स के कथन के विपरीत, पहली श्रमिक-क्रान्ति एक ऐसे देश रूस में हुई, जो मूलतः कृषिप्रधान था और जहाँ किसी संगठित श्रमिक आन्दोलन का अभाव था। तो फिर यह कैसे घटित हुआ? स्वामी विवेकानन्द ने किस आधार पर ये सही भविष्यवाणियाँ कीं? यह बता पाना कठिन है। यह सर्वविदित है कि वे इतिहास के एक अच्छे अध्येता थे और ऐतिहासिक शक्तियों के विषय में उनकी अन्तर्दृष्टि गहन तथा ठोस थी।

विवेकानन्द ने एक भविष्यवाणी और की थी, जिसका सत्य सिद्ध होना अभी बाकी है। उन्होंने कहा था कि भारत एक बार फिर समृद्धि तथा शक्ति की महान् ऊँचाइयों तक उठेगा और अपने समस्त प्राचीन गौरव को पीछे छोड़ जाएगा। भारत की वर्तमान अवस्था को देखने से ऐसी किसी भी सम्भावना का संकेत नहीं मिलता। उलटे यह ऐसी समस्याओं से घिरा हुआ है, जो कुछ लोगों के मतानुसार उसके विनाश का कारण बन सकती हैं। यह सच है कि इनमें से कुछ समस्याएँ – निर्धनता, अशिक्षा, जातिवाद आदि तो बड़ी पुरानी हैं, दीर्घ काल से – स्वाधीनता के पहले से ही चली आ रही हैं और अब भी वैसी ही सबल तथा भयंकर रूप धारण किये हुए हैं। परन्तु भारत ने किसी भी प्रकार उनके साथ रहना सीख लिया है और वे कोई विशेष चिन्ता का कारण नहीं हैं। नयी समस्याएँ, जो सचमुच ही अत्यन्त अशुभ हैं, वे हैं विभिन्न आंचलिक समुदायों का पृथकतावाद और साम्प्रदायिक कट्टरता। देश पहले ही सम्प्रदाय के आधार पर एक बड़े विभाजन का शिकार हो चुका है और एक प्रश्न हर व्यक्ति के मन को चिन्तित किये हुए है कि यदि और भी विभाजन हुए, तो भारत का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

जियो और जीने दो

स्वामीजी ने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह स्पष्ट जान लिया था कि यदि भारत ने राजनीति में पाश्चात्य तरीकों को अपनाया, तो ऐसी ही परिस्थिति का निर्माण होगा और उन्होंने भारत को ऐसे अनुकरण के विषय में सावधान कर दिया था। पाश्चात्य राष्ट्र स्वभाव से ही एकांगी और इस कारण असहिष्णु हैं। दूसरी ओर भारत सदा से ही नये-नये प्रजातीय समूहों और उनके साथ ही नये विचारों तथा जीवन-शैलियों का स्वागत करता हुआ, उन्हें आत्मसात् करके अपनाता रहा है। यहाँ आये यूनानियों, सीथियनों, मंगोलों तथा हूणों का अब अलग अस्तित्व कहाँ रह गया है? वे सभी भारतीयता की पहचान में समाहित हो गये हैं। आज भारत अनेक प्रजातियों, संस्कृतियों तथा परम्पराओं की एक सुन्दर कलाकृति बन

गया है, जिसका प्रत्येक तत्त्व आपसी प्रेम तथा सद्भाव के धागे से जुड़ा हुआ है। भारतवर्ष सदा से ही एक बहु-प्रजातीय तथा बहु-धर्मीय राष्ट्र रहा है।

अत्यन्त उन्नत लोग ऐसे लोगों के बीच में रहते आये हैं, जो उनकी तुलना में पिछड़े हुए हैं। तथापि वे सदा से आपसी शान्ति तथा सद्भाव के साथ रहते आये हैं। उनके बीच शायद ही कभी आपसी सम्बन्धों को कटु बनानेवाले संघर्ष होते हैं। उनमें से अधिकांश लोग पूरी तौर से आत्मसात् हो गये हैं, परन्तु यदि कुछ ने अपना अलग अस्तित्व बनाये रखना चाहा है, तो वे वैसे ही रहे हैं। 'जियो और जीने दो' – यही भारत की नीति रही है। भारत सदा से ही 'बहुत्व में एकत्व' के दर्शन में विश्वास करता आया है। ईश्वर एक है और मनुष्य भी एक है। भारत ने कभी किसी भी समूह की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं किया। इसीलिये प्रत्येक धार्मिक समुदाय के भीतर अनेक सम्प्रदायों का अस्तित्व विद्यमान है। स्वामीजी ने सम्प्रदायों के बहुत्व का स्वागत किया। वे जानते थे कि जहाँ स्वाधीनता है, वहीं उन्नति भी सम्भव है। उन्नति में स्वाधीनता होने पर विविधता अवश्यम्भावी है। विविधता स्वाभाविक है और एकरूपता कृत्रिम है। प्रत्येक को अपने ही तरीके विकास करना होगा, अन्यथा वह विकसित ही नहीं हो सकता। भारत सदा से ही इस सिद्धान्त में विश्वास करता रहा है और इसी के अनुसार जीता आया है। तो फिर एकता कहाँ रही? एकता एक-दूसरे के सिद्धान्तों का सम्मान करने में और आदर्शों की समानता में है। स्वामीजी के मतानुसार भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं – त्याग और सेवा। प्रत्येक समूह दूसरों के लिये त्याग करता है और इस प्रकार राष्ट्र की सेवा करता है। इसी पद्धति से विविधता ने भारतीय एकता को सुदृढ़ करने में मदद की है। इसी पद्धति से किसी भी बहु-प्रजातीय समाज में एकता की स्थापना सम्भव है। आशा है कि भारत अपने इन राष्ट्रीय आदर्शों में निष्ठा बनाये रखेगा और सत्ता के उस लोभ से सम्मोहित नहीं होगा, जो कि पाश्चात्य राजनीति का प्रमुख वैशिष्ट्य है। भारत में राजनीति का उद्देश्य शासन नहीं, बल्कि सेवा होना चाहिये।

श्रमिक का बुद्धिजीवी वर्गों में समता

स्वामीजी जानते थे कि वह दिन दूर नहीं, जब एक नये भारत का उदय होगा, जिसमें शक्ति बुद्धिजीवी-वर्ग (ब्राह्मणों) के हाथ में नहीं, बल्कि श्रमिक-वर्ग (शूद्रों) के हाथ में होगी। यह जितना शीघ्र हो, देश के लिये उतना ही अच्छा होगा। उन्हें यह भी आशा थी कि बुद्धिजीवी वर्ग, अपने तथा राष्ट्र के हित में भी, इस परिवर्तन का स्वागत करेगा। अन्य स्थानों में यह परिवर्तन हिंसा के साथ आया है। परन्तु भारत में किसी हिंसा की आवश्यकता नहीं है, बशर्ते कि बुद्धिजीवी-वर्ग अपने राष्ट्रीय आदर्शों के अनुसार चलें। भारतीय समाज सदा से ही उल्लेखनीय मात्रा में लचीलापन दिखाता आया है और समय की आवश्यकताओं के अनुसार स्वयं को समायोजित करता रहा है।

पूरी तौर से नहीं, तो आंशिक रूप से ही सही, स्वामीजी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है। आज का श्रमिक-वर्ग पिछले किसी भी काल की अपेक्षा अधिक सशक्त हो चुका है। वे लोग अब बेहतर स्थिति में हैं और क्रमशः बुद्धिजीवी वर्ग की बराबरी पर पहुँच रहे हैं। स्वामीजी नहीं चाहते थे कि इस तरह की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में देश के बौद्धिक तथा नैतिक स्तर में ह्रास हो। इसीलिये वे चाहते थे कि श्रमिक-वर्ग के बच्चों को बुद्धिजीवी-वर्ग के बच्चों की तुलना में शिक्षा के अधिक अवसर प्रदान किये जायँ। सबसे अधिक तो वे चाहते थे कि सांस्कृतिक तथा नैतिक दृष्टि से भारत पहले के समान ही सबल बना रहे। वे 'ऊपर उठाने' में विश्वास करते थे, 'नीचे उतारने' में नहीं। आज के स्वाधीन भारत में ठीक यही हो रहा है और यह एक शुभ लक्षण है।

इस्लामी शरीर और वेदान्ती बुद्धि

स्वामीजी की परिकल्पना थी कि श्रमिक-वर्ग सत्ता में आएगा, उनका सांस्कृतिक तथा नैतिक स्तर उन्नत होगा और भारतीय समाज जाति-वर्ग-विहीन हो जाएगा। इस समाज के विषय में उनकी प्रिय उक्ति थी – 'इस्लामी शरीर में वेदान्ती बुद्धि'। यह आदर्श समाज ऐसा होना चाहिये, जो निरन्तर नैतिक पूर्णता (जिसे उन्होंने 'वेदान्ती' कहा) के उच्चतर स्तर की उपलब्धि के लिये प्रयास करता रहेगा।

अपने देश के लिये उन्होंने जो कार्ययोजना बनायी, उसमें पहली प्राथमिकता के रूप में, उन्होंने जिस समस्या को रेखांकित किया, वह था निर्धनता का उन्मूलन। वे जानते थे कि भारत को एक औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यकता है। इसके लिये आवश्यक था कि सम्पूर्ण देश में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा का विस्तार किया जाय। किसी काल में भारत विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अन्य देशों की तुलना में काफी आगे रहा है, परन्तु पिछली कुछ शताब्दियों से यह जड़ीभूत हो गया है और अन्य देशों की तुलना में हर दृष्टि से पिछड़ गया है। जनता की निर्धनता उन्हें भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से निर्जीव बनाती जा रही थी। सर्वोपरि, जनता में एक तरह की जड़ता छा गयी है, जिसके फलस्वरूप लोग परिस्थिति को अपरिहार्य मानकर उसे स्वीकार कर लेते हैं। इसी बात से स्वामीजी सर्वाधिक व्यथित होते थे। अंग्रेज लोगों ने इस स्थिति का गलत फायदा उठाया और निर्लज्ज क्रूरता के साथ जनता का शोषण किया। स्वामीजी ने

जमशेदजी टाटा को एक ऐसा संस्थान स्थापित करने की सलाह दी, जिसमें उन्नत कोटि का शोध-कार्य किया जाय। दोनों एक ही जलयान पर जापान से अमेरिका की यात्रा कर रहे थे। टाटा जापान के औद्योगिक उत्पादों का आयात करने की चेष्टा कर रहे थे। परन्तु स्वामीजी को यह बात पसन्द नहीं आयी। वे चाहते थे कि टाटा न केवल भारत के औद्योगीकरण में एक अग्रदूत का कार्य करें, अपितु एक शोध-केन्द्र भी आरम्भ करें, ताकि नवीनतम तकनीकी का सतत प्रवाह औद्योगिक विस्तार को गति प्रदान करता रहे। टाटा ने स्वामीजी की सलाह मानी। उन्होंने एक शोध-केन्द्र की स्थापना की, जो कि सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। मजे की बात तो यह है कि उन्होंने स्वामीजी को इसका प्रथम निदेशक बनने को आमंत्रित किया था। स्वामीजी ने उसका क्या उत्तर दिया, यह ज्ञात नहीं हो सका है।

विज्ञान तथा धर्म का गठजोड़

स्वामीजी जानते थे कि किसी राष्ट्र की शक्ति उसके आकार या धन पर नहीं, अपितु उसके चरित्र पर निर्भर करती है। उन्हें आशा थी कि भारत इस बात का एक उदाहरण प्रस्तुत करेगा कि किस प्रकार विज्ञान तथा धर्म का सम्मिलन हो सकता है – जिसमें विज्ञान मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और धर्म उसकी नैतिक तथा आध्यात्मिक जरूरतों की। यह आवश्यक नहीं कि एक धनाढ्य व्यक्ति नैतिक भी हो। स्वामीजी ने कहा – "मनुष्य-निर्माण ही मेरा जीवनोद्देश्य है।" उन्हें बोध हुआ कि किसी भी समाज में यदि उसके मानवीय घटक भले तथा सबल नहीं हैं, तो वह टिक नहीं सकता। वे पश्चिमी दुनिया की कर्मठता, संगठन-क्षमता और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों से प्रभावित थे। परन्तु उन्होंने उन लोगों की इन्द्रिय-सुखों के प्रति घोर आसक्ति तथा नैतिक विकास के विषय में उदासीनता भी देखी। वे जानते थे कि किसी समाज में जब तक भौतिक समृद्धि तथा नैतिक विकास के बीच सही सन्तुलन नहीं होता, तब तक व्यक्ति को शान्ति नहीं मिल सकती और उस समाज की सर्वांगीण उन्नति भी नहीं हो सकती।

साल-दर-साल भारत निर्धनता के विरुद्ध अपनी लड़ाई में विजय की ओर बढ़ता जा रहा है। खाद्यान्न के क्षेत्र में उसे उल्लेखनीय उपलब्धि हासिल हुई है। स्वाधीनता के तत्काल बाद उसे अपनी जनता को भरपेट भोजन कराने के लिये भी मुख्यत: आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। आज वह खाद्य-उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की स्थिति में पहुँच गया है। भारत एक हरित क्रान्ति से होकर गुजर चुका है। इसे प्राय: बाढ़ों तथा अकालों का सामना करना पड़ता है। तथापि वह बिना किसी बाह्य सहायता के अपनी जनता का पेट भरने में सक्षम हो चुका है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी उसने उल्लेखनीय प्रगति की है। आज वह विश्व के सर्वाधिक उन्नत प्रौद्योगिकी वाले देशों के बीच स्थान बना चुका है। इंजीनियरी की तकनीकी में वह आत्मनिर्भर है और अनेक विकासशील देशों की सहायता करने में भी सक्षम है।

परन्तु खेद की बात यह है कि अब भी देश के कुछ अंचलों में निर्धनता फैली हुई है। सामाजिक अन्याय भी अभी पूरी तौर से दूर नहीं हो सका है और अशिक्षा भी एक समस्या बनी हुई है। जब तक ये समस्याएँ सुलझ नहीं जातीं, तब तक स्वामी विवेकानन्द के भारत-विषयक विचार कैसे रूपायित हो सकते हैं! वे एक द्रुतगामी व्यक्ति थे और जानते थे कि भारत को साहस तथा आत्मविश्वास की जरूरत है। समस्याएँ भारत की हैं और स्वयं भारत को ही उनका समाधान ढूँढ़ निकालना होगा। उसे न तो दूसरों का अनुकरण करना है, और न ही दूसरों पर निर्भर रहना है। उसे अपने स्वयं के प्रयासों से अपनी वर्तमान तथा भविष्य में भी आनेवाली समस्याओं का हल निकालना होगा।

❑❑❑

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'मेरा भारत अमर भारत' ग्रन्थ से)

परख के मापदण्ड

हम लोगों को आजीवन यह बात सीखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति की परख उसके अपने आदर्शों के अनुसार करनी चाहिए, दूसरों के आदर्शों के अनुसार नहीं। ऐसा न करके हम दूसरों को अपने आदर्शों की दृष्टि से देखते हैं। यह ठीक नहीं। अपने आसपास रहने वालों के साथ व्यवहार करते समय हम सदा यही भूल करते हैं; और मेरे मतानुसार, दूसरों के साथ हमारी जो कुछ भी अनबन हो जाती है, वह अधिकतर इसी एक कारण होती है कि हम दूसरों के देवता को अपने देवता के द्वारा, दूसरों के आदर्शों को अपने आदर्शों के द्वारा और दूसरों के उद्देश्य को अपने उद्देश्य के द्वारा परखने की चेष्टा करते हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

नैनीताल में राजा का आतिथ्य (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसा सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

खेतड़ी से पत्र-व्यवहार (मार्च १८९८)

१८९८ ई. के २८ जनवरी को इंग्लैंड से मिस मार्गरेट नोबल (भगिनी निवेदिता) भारत आ पहुँचीं। १३ फरवरी को स्वामीजी का मठ आलमबाजार से स्थानान्तरित होकर बेलूड़ में गंगा-तट पर स्थित नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में आ गया। १४ फरवरी को अमेरिका से दो महिलाएँ श्रीमती सारा (ओली) बुल तथा जोसेफिन मैक्लाउड भारत आयीं। मार्च के प्रारम्भ में स्वामीजी ने वर्तमान बेलूड़ ग्राम में नया मठ बनाने के लिये जमीन खरीदी। उसी भूखण्ड में स्थित एक पुराने भवन में श्रीमती ओली बुल तथा जोसेफिन मैक्लाउड निवास करने लगीं। बाद में निवेदिता भी आकर उन्हीं के साथ रहने लगीं। ११ मार्च को स्वामीजी ने एक पत्र में लिखा कि वे इन पाश्चात्य शिष्यों तथा मित्रों के साथ काश्मीर-यात्रा की योजना बना रहे हैं।

मार्च (१८९८) के प्रारम्भ में उन्होंने खेतड़ी में मुंशी जगमोहन लाल को एक पत्र लिखा कि वे राजा साहब से सलाह करके काश्मीर के रेजीडेंट टैलबोट के नाम एक अनुरोध-पत्र भेज दें। उत्तर में २१ मार्च को खेतड़ी से श्री रामलाल ने स्वामीजी को एक पत्र में लिखा कि जगमोहन लाल के अनुपस्थित होने के कारण उनके नाम लिखा आपका पत्र राजाजी ने पढ़ा, उसमें आपके द्वारा माँगा गया काश्मीर के रेजीडेंट कर्नल ए. सी. टैलबोट के नाम अनुरोध-पत्र भेजा जा रहा है। उन दिनों मुंशीजी भी किसी कार्यवश कोलकाता आये हुए थे और बेलूड़ जाकर स्वामीजी से मिल चुके थे। मुंशीजी के नाम राजा साहब द्वारा खेतड़ी से २५ मार्च को लिखित पत्र से ऐसा ही ज्ञात होता है। पत्र के प्रासंगिक अंशों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

खेतड़ी, २५ मार्च १८९८

प्रिय जगमोहन, आपके जाने के बाद से आपके कुछ पत्र और आज कोलकाता से एक टेलीग्राम मिला है।... बाघ के खाल शीघ्र भेज दिये जायेंगे। आपको स्वामीजी से जो कुछ कहना है, उसे आप कह सकते हैं (वह आपकी व्यक्तिगत बात है), ठीक है न? आपसे कुछ अनुकूल समाचार पाने की आशा में

भवदीय, अजीतसिंह

पुनश्च – दुलीचन्द से मेरी ओर से उनके स्वास्थ्य आदि के बारे में पूछ लीजियेगा। क्या वे हम लोगों के साथ पहाड़ों में नहीं आ सकते ! पूज्यपाद (स्वामीजी) को मेरा दण्डवत कहियेगा। हमारी यहाँ से २ अप्रैल को जयपुर रवाना होने की बात है।''[१]

उपरोक्त पत्र से ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने जगमोहन लाल के माध्यम से अपने अमेरिकी मित्रों को उपहार में देने के लिये राजाजी से दो व्याघ्र-चर्म माँगे थे। अपने ९ जून १८९८ के पत्र में स्वामीजी राजाजी को पुन: व्याघ्र-चर्मों की याद दिलाते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि २ अप्रैल को राजाजी खेतड़ी से जयपुर के लिये रवाना हो रहे हैं। इसके बाद स्वामीजी दार्जिलिंग चले गये और राजा साहब गर्मी का मौसम बिताने के लिये नैनीताल। विभिन्न सूत्रों से ज्ञात होता है कि राजा अजीतसिंह के आमंत्रण पर तथा उनका आतिथ्य ग्रहण करने हेतु ही स्वामीजी नैनीताल पधारे थे।

इस बीच स्वामीजी के राजस्थान-प्रसंग से सम्बन्धित उनका केवल एक पत्र मिलता है, जो दार्जिलिंग से १५ अप्रैल को मुंशी जगमोहनलाल के नाम लिखा गया है –

बालेन विले, १५ अप्रैल '९८

प्रिय जगमोहन,

यदि आप उन पत्रों को जिनको मैंने जापान, यूरोप तथा अमेरिका जाने के रास्ते में अथवा वहाँ से महाराजा को लिखे गये पत्रों को एकत्रित कर सकें, तो कृपया उन्हें निश्चित रूप से यथाशीघ्र रजिस्ट्री से मठ के पते पर मुझे भेज दें।

आशीर्वाद के साथ – आपका विश्वासपात्र मैं हूँ

विवेकानन्द[२]

१. इस पत्र की प्रतिलिपि हमें खेतड़ी एस्टेट मैनेजर के पुत्र श्री अब्दुल हादी खान से प्राप्त हुई है।

२. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. V, P. 104

स्वामीजी की नैनीताल-यात्रा

बुधवार, ११ मई १८९८ को स्वामीजी एक विशाल टोली के साथ हावड़ा से काठगोदाम के लिए रवाना हुए। इस टोली में थे पाँच संन्यासी – स्वामीजी तथा उनके दो गुरुभाई – स्वामी तुरीयानन्द एवं निरंजनानन्द; दो शिष्य – स्वामी सदानन्द एवं स्वरूपानन्द और चार विदेशी महिलाएँ – श्रीमती ओली बुल, जोसेफिन मैक्लाउड, भगिनी निवेदिता तथा श्रीमती पैटर्सन।[३]

निवेदिता २२ मई को अल्मोड़ा से लिखे अपने पत्र में सूचित करती हैं कि हावड़ा से काठगोदाम तक की रेलयात्रा में दो रात तथा एक दिन लगे थे। अत: बुधवार, ११ मई की रात को वे लोग कलकत्ते से चलकर शुक्रवार, १३ मई को सुबह काठगोदाम और उसी दिन नैनीताल पहुँचे थे।*

श्रीमती सारा बुल ने अमेरिका में अपनी पुत्री को इस यात्रा का विवरण देते हुए नैनीताल से १६ मई को एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने इस यात्रा का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। वे लिखती हैं – "प्रिय ओलिया, बड़ी आरामदायक यात्रा के बाद पिछले शुक्रवार को हम लोग यहाँ आ पहुँचे हैं। इन दिनों मैदानी अंचलों में बड़ी भयंकर गर्मी पड़ती है, परन्तु पहली रात को हुई वर्षा के कारण रेलगाड़ी का डिब्बा ठण्डा रहा। अगले दिन दोपहर में भी हम लोग खिड़कियों को खुली रख सके। खिड़कियों में खस की टट्टियाँ लगी हैं, जिन्हें गीला रखने से डिब्बा ठण्डा रहता है। शाम तक हम लोग कम उष्ण अंचल में पहुँच गये थे। रात को ११ बजे हमने छोटी लाइन के लिये गाड़ी बदली। सुबह के ५ बजे तक हम लोग अन्तिम स्टेशन (काठगोदाम) तक पहुँच चुके थे। फिर जलपान तथा विश्राम के बाद हम लोगों ने पहाड़ी सड़क पर यात्रा आरम्भ की। २० में से १० मील की यात्रा बड़ी जल्दी समाप्त हो गयी, जिस दौरान हमने तीन बार घोड़ों को बदला। इसके बाद हम लोग डण्डियों अर्थात् कुर्सियों पर सवार हुए।... हमारा सामान पुरुष तथा महिला कुलियों द्वारा ढोया गया, जो अधिकांश रास्ते हमारे साथ ही चलते रहे। टोली के कुछ लोग घोड़ों पर थे। स्वामीजी के मित्र हमें रेलवे स्टेशन पर मिले थे और उन्होंने ही हमारे लिये इस यात्रा की व्यवस्था की थी।"[४]

भगिनी निवेदिता ने इस यात्रा के दौरान प्राप्त हुई स्वामीजी के सान्निध्य तथा शिक्षा की एक अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। वे लिखती हैं – "मई के प्रारम्भ से अक्तूबर तक हमने क्या ही अद्भुत दृश्यों के बीच से होकर भ्रमण किया! और हम जैसे जैसे एक के बाद एक नये स्थानों को गए, कितने आवेगपूर्ण उत्साह के साथ स्वामीजी ने हमें वहाँ की प्रत्येक रोचक वस्तु का परिचय कराया! जिन लोगों ने भारत के विषय में प्रयासपूर्वक कुछ ज्ञानार्जन किया है, उनकी बात छोड़ दें, तो पाश्चात्य शिक्षित लोगों की इस विषय में अज्ञता को निछक मूर्खता कहकर वर्णन किया जा सकता है। और हमारी इस विषय में प्राथमिक शिक्षा नि:सन्देह पटना या प्राचीन पाटलीपुत्र से ही प्रारम्भ हो गयी। रेलगाड़ी में पूर्व की ओर से काशी में प्रवेश करते समय वहाँ के घाटों का जो दृश्य दृष्टिगोचर होता है, वह विश्व के सर्वोत्तम दृश्यों में से एक है। स्वामीजी ने उनकी आवेगपूर्ण प्रशंसा करने में भूल नहीं की। लखनऊ के उद्योगों तथा विलासिता की वस्तुओं का भी काफी समय तक गुणगान हुआ। परन्तु स्वामीजी केवल सौंदर्य तथा ऐतिहासिक महत्त्व के महानगरों की बात ही आग्रहपूर्वक हमारे मन में दृढ़ांकित करने का प्रयास करते हों, ऐसी बात नहीं। आर्यावर्त के सुविस्तृत खेतों-खलिहानों तथा ग्रामों से परिपूर्ण मैदानी अंचलों से होकर गुजरते समय उनकी प्रीति और तल्लीनता जैसी प्रगाढ़ हो उठती, वैसी सम्भवत: और कहीं भी नहीं हुई। इन्हीं स्थानों पर वे सम्पूर्ण देश का अखण्ड रूप से चिन्तन कर पाते और वे घण्टों तक कृषि की सामुदायिक प्रणाली अथवा एक कृषक-गृहिणी की दिनचर्या का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन करते, जैसे कि वे यह भी बताते कि प्रात:काल के जलपान के लिए किस प्रकार खिचड़ी का बरतन रात भर उबलने के लिए चूल्हे पर चढ़ा दिया जाता है। हमारे समक्ष यह सब वर्णन करते समय उनके नेत्रों से ऐसा आनन्द फूट पड़ता और कण्ठस्वर ऐसा मर्मस्पर्शी हो उठता कि निश्चय ही यह उनके परिव्रज्या के दिनों की स्मृतियों के फलस्वरूप होता था। क्योंकि मैंने साधुओं के मुख से सुना है कि निर्धन कृषकों के घर में जैसा अतिथि-सत्कार होता है, वैसा भारत में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। ...

"बीच बीच में ऐसा प्रतीत होता कि स्वदेश के अतीत गौरव-बोध ने ही स्वामीजी के पूरे हृदय पर अधिकार कर रखा है। उनकी ऐतिहासिक चेतना असाधारण रूप से विकसित थी। अतएव वर्षा ऋतु के प्रारम्भ के एक उमस भरे अपराह्न में जब हम तराई क्षेत्र से होकर गुजर रहे थे, उन्होंने हमें बोध कराया कि यही वह भूमि है जहाँ बुद्धदेव ने अपनी तरुणाई बिताई थी और महाभिनिष्क्रमण किया था। जंगली मयूरों ने हमें राजपुताना और उसके चारण गीतों की स्मृति दिलायी। कहीं हाथी दीख गया तो उसी के उपलक्ष्य से स्वामीजी भारत के प्राचीन युद्धों की कथा बताने लगते – उस प्राचीन युग के भारत की कथा, जो जब तक विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध

३. ध्यान, धर्म तथा साधना, स्वामी ब्रह्मानन्द, सं. १९८०, पृ. १७९-८०; जोसेफिन मैक्लाउड एण्ड विवेकानन्दास मिशन (अंग्रेजी ग्रन्थ), लिंडा प्रुग, सं. १९९९, चेन्नै, पृ. १२२

* कुछ ग्रन्थों में भ्रान्तिवश १२ मई को यात्रा-आरम्भ लिखा हुआ है।

४. Saint Sara, Pravrajika Prabuddhaprana, Calcutta, p. 279

इस जीवन्त कमान को सामरिक प्राचीरों की भाँति खड़ा कर सका, तब तक कभी पराजित नहीं हुआ। ...

"जब हम किसी गाँव से होकर गुजरते, तो वे हमें द्वारों के ऊपर लटकते हुए गेंदे के फूलों की मालाएँ दिखाते, जो हिन्दू गृहों का वैशिष्ट्य है। फिर वे हमें भारतीय जातियों में गौर-वर्ण के रूप में प्रशंसित त्वचा का सुनहरा रंग दिखाते, जो यूरोपीय आदर्श के रक्ताभ श्वेत वर्ण से कितना भिन्न था! हम लोगों को साथ लिए ताँगे में जाते समय वे उन शिव की महिमा का वर्णन करने में तन्मय हो जाते, जिनकी कथा सुनाते वे कभी थकते नहीं थे। महादेव लोक समागम से अति दूर पर्वत शिखरों पर मौन निवास करते हैं, वे लोगों से एकान्त के सिवा और कोई अपेक्षा नहीं रखते और निरन्तर ध्यान में मग्न रहते हैं – ये ही सब बातें वे बताते। ..."[५]

स्वामीजी तथा उनके साथ के चार संन्यासी राजा अजीत सिंह के अतिथि के रूप में उनके (सम्भवत: किराये के)* बँगले में चले गये और चार विदेशी अतिथियों की व्यवस्था वहाँ के एक विशिष्ट होटल में हुई थी।

१३ मई को प्रात:काल सभी लोग काठगोदाम पहुँचे और वहाँ से, पहले तो ताँगे में और तत्पश्चात् घोड़ों अथवा डण्डियों पर नैनीताल पहुँचे। स्वामीजी डण्डी पर गए थे। खेतड़ी के राजा अजित सिंह उस समय नैनीताल में ही थे; अत: स्वामीजी राजा से मिले और दो-तीन दिन उन्हीं के निवास-स्थान पर बिताए।[६]

श्रीमती सारा बुल आगे लिखती हैं – "यहाँ नैनीताल में हमें एक बड़ा ही आरामदायक होटल मिल गया, जिसमें भोजन आदि की व्यवस्था अति उत्तम थी। छह हजार फीट तक की चढ़ाई का यह पूरा मार्ग रोचक वस्तुओं तथा सौन्दर्य से भरा पड़ा है।... मार्ग आनेजाने वालों से परिपूर्ण था। पहाड़ों के ढलान जंगलों से ढँके हुए थे और अनेक स्थानों पर घाटियाँ खुलती थीं और दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई देते थे। विशेषकर जब हम नैनीताल के निकट पहुँचे, तो बड़े सुन्दर बँगले दिखाई दिये। यह स्थान एक मील लम्बी तथा आधी मील चौड़ी एक झील के चारों ओर स्थित एक पहाड़ी ढलान पर बसा हुआ है। झील की ओर प्रवेश करने का स्थान विशेष सुन्दर है, जहाँ से नीचे की ओर घाटी और दूर-दूर के पहाड़ तथा पर्वत-श्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। वहाँ सहसा सैकड़ों फीट नीची खाई है और दूसरी ओर सैकड़ों फीट वनाच्छादित पहाड़ी ढलान ऊपर की ओर चली गयी है। ऊँचे स्थानों पर ग्रीष्मावास बने हुए हैं।

"चट्टानों के बड़े-बड़े शिखर विशाल प्रहरियों के समान लोगों के नयनाभिराम मकानों की लम्बी पाँत की रक्षा कर रहे हैं। मकानों के ऊपर छज्जे बने हैं और नीचे छोटी-छोटी दुकानें। उनके बीच से गुजरती हुई घुमावदार सड़क सर्वत्र विचित्र चित्रकारियों और लोगों द्वारा पहने जानेवाले गहरे रंग के वस्त्रों के सम्मिलन से बड़ी आनन्दमय प्रतीत होती है। यहाँ आये अंग्रेज लोगों की डण्डियों को ढोनेवालों ने वर्दियाँ पहन रखी हैं; और जब वे लोग इन आकर्षक नौकरों से घिरी हुई अपनी कुर्सियों पर बैठकर गोल्फ या घुड़दौड़ देख रहे होते हैं, तो इससे उनके ऐश्वर्य का आभास होता है। एक महिला के पास एक पहियेदार कुर्सी है, जिसे सामने से खींचने के लिये दो, पीछे से ढकेलने के लिये चार और उनके भी पीछे दो और – इस प्रकार कुल आठ नौकर हैं; और वे सभी सफेद कोट-पैंट तथा भड़कीली पगड़ियाँ पहने रहते हैं। डण्डियों में बिछे कालीन हमेशा उन्हें ढोनेवालों की वर्दियों के रंग के होते हैं और उनमें रंग-बिरंगी गद्दियाँ भी लगी रहती हैं। देखो, यहाँ पर अपनी वेशभूषा का प्रदर्शन करने के कितने ही अवसर हैं! बच्चे दो घोड़ों की गाड़ी में चलते हैं। छोटे बच्चों के लिये चौकोर, ढँकी हुई तथा परदों से युक्त पालकियाँ हैं और बहुधा उनके साथ एक आया तथा एक वर्दीधारी नौकर होता है, जो छाता पकड़े रहता है।"[७]

लिजले रेमण्ड द्वारा लिखित भगिनी निवेदिता की जीवनी में इस यात्रा के दुर्लभ विवरण प्राप्त होते हैं – "समतल भूमि छोड़ने के बाद हिमालय के ये यात्रीगण सर्वप्रथम नैनीताल पहुँचे। समुद्रतल से ६००० फीट की ऊँचाई पर बसा यह नगर हिमालय के पाद-प्रदेश में स्थित है। वे लोग डण्डियों पर सवार होकर वहाँ पहुँचे। खेतड़ी के महाराजा वहाँ स्वामीजी की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्थान अति मनोरम था। महाराजा का बँगला पहाड़ की ढलान पर था और वहाँ से सारी प्राकृतिक दृश्यावली सहज ही दृष्टिगोचर होती थी। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ सोपान की भाँति नीचे सरोवर तक चली गयी थीं। रोडोडेन्ड्रन तथा देवदार के वनों के बीच-बीच में गुलाबी ग्रेनाइट के विशाल चट्टान उभरे हुए थे।"[८]

भगिनी निवेदिता स्वयं लिखती हैं – "हम लोग एक बड़ी टोली या सच कहें तो दो टोलियों के रूप में हैं। बुधवार की संध्या को हावड़ा स्टेशन से चलकर शुक्रवार को प्रातःकाल हम लोग हिमालय के सम्मुख जा पहुँचे। तीन घटनाओं ने हमारे नैनीताल प्रवास को आनन्दमय बना दिया

५. Complete Works of Sister Nivedita, Vol. I, P. 69-70

* राजा अजीतसिंह के नाम भेजे गये एक पत्र के लिफाफे पर पता है – 'कृष्णजी शाह की कोठी, नैनीताल' इससे ऐसा अनुमान होता है कि राजा साहब ग्रीष्मावास हेतु नैनीताल आने पर उपरोक्त कोठी में ही निवास करते थे और हमारा अनुमान है कि इस बार उन्होंने स्वामीजी तथा उनके संगी संन्यासियों को वहीं ठहराया था।

६. युगनायक विवेकानन्द, तृतीय खण्ड, सं. २००५, पृ, ९२

७. Saint Sara, Pravrajika Prabuddhaprana, Calcutta, p. 280

८. The Dedicated, Lizelle Reymond, 1985, Madras, p. 102

था – स्वामीजी द्वारा अत्यन्त आह्लादपूर्वक खेतड़ी के राजा के साथ हमारा परिचय कराना, दो नर्तकी महिलाओं द्वारा हमसे पता पूछकर स्वामीजी से मिलने जाना, अन्य लोगों के विरोध के बावजूद स्वामीजी द्वारा उनका सप्रेम स्वागत और एक मुसलमान सज्जन का यह कहना, "स्वामीजी, यदि भविष्य में कोई आपको अवतार कहकर घोषणा करे, तो स्मरण रहे कि मैं एक मुसलमान उनमें से प्रथम हूँ।"[९]

वहाँ स्वामीजी का जिस प्रकार स्वागत हुआ था, उसके विषय में जोसेफिन मैक्लाउड ने लिखा है – "नैनीताल में ... सैकड़ों भारतवासी स्वामीजी से मिलने आये और उन्हें एक सुन्दर पहाड़ी घोड़े पर बिठाया। इसके बाद उन लोगों ने उनके सामने फल-फूल बिखेर दिये। ईसा-मसीह के जेरुसलेम जाने पर भी ठीक ऐसा ही हुआ था। और मैं तत्काल कह उठी, 'ओह, तो फिर यह एक प्राच्य परम्परा है !' "[१०]

"महाकाव्यों में वर्णित राजकीय आतिथ्य का वर्तमान उदाहरण प्रस्तुत करते हुए महाराजा ने संन्यासी के अतिथियों के लिए अपने बँगले के द्वार उन्मुक्त कर दिये। उन्होंने कहा – "राखों से ढँका कोई संन्यासी हो, कोई दुखिनी नारी हो, या कोई राजकुमार हो, गृहस्वामी उसका देवदूत के समान स्वागत करता है।" महाराजा ने उससे भी कुछ अधिक किया – उन्होंने अपने (पाश्चात्य) मेहमानों के लिए, सरोवर के किनारे स्थित, देवदार के वृक्षों से आच्छन्न नैनीताल की अधिष्ठातृ-देवी के मन्दिर के द्वार भी खुलवा दिये।"[११]

मन्दिर में दर्शन तथा नर्तकियों की घटना

अगले दिन १४ मई को सुबह निवेदिता तथा अन्य महिलाएँ नैनादेवी का दर्शन करने गयीं। लिजले रेमंड लिखती हैं – "वर्ष की कुछ खास-खास तिथियों पर उस मन्दिर में तीर्थ-यात्रियों की भीड़ हुआ करती है, पर जिस दिन ये तीन विदेशी शिष्याएँ वहाँ गयीं, वहाँ केवल राजकीय वाहनों से आकृष्ट होकर आनेवाले लोगों की ही भीड़ थी। यदि संन्यासीगण उनके साथ न रहे होते, तो पुजारियों ने इन विदेशियों को सरोवर के शीतल जल का स्पर्श करने या आसपास के छोटे-छोटे मन्दिरों का दर्शन नहीं करने दिया होता। ...

"मन्दिर के द्वार खुले थे और आगन्तुकों ने बाहर से ही गर्भगृह में स्थित देवी-प्रतिमा को देखने की चेष्टा की। मूर्ति को आलोकित करने के लिए पुजारी ने एक दीपक उठा रखा था, पर इन तीन तीर्थयात्रियों के नेत्र अब भी धूप में से होकर आने के कारण धुँधलाये हुए थे, अत: वे टिमटिमाती हुई दीप-शिखा के सिवा और कुछ नहीं देख सके। रौशनी एक बार, फिर दुबारा जलायी गयी और बुझ गयी। आगन्तुक-गण थोड़े संकोच का अनुभव करने लगे। निवेदिता सहसा पीछे मुड़ीं और देखा कि पीछे भीड़ एकत्र होकर उन्हें सन्दिग्ध दृष्टि से देख रही है। यह एक उदासीन तथा अभेद्य सम्पर्क था।

"निवेदिता ने उनके साथ हिन्दी के दो-एक शब्द बोलने का प्रयास किया, पर इसकी एकमात्र प्रतिक्रिया और भी उदासीनता के रूप में व्यक्त हुई। इसका एकमात्र उत्तर उन्हें मिला सामने की पंक्ति में खड़ी महँगी झलमलाती साड़ियाँ पहने खड़ी दो सुन्दर युवतियों के चेहरों पर एक रोचक मुस्कान के रूप में। उनके सिर भारी आभूषणों से लदे थे, जो उनकी ललाट, कानों तथा नाकों तक फैले थे; जिन हाथों से उन्होंने अपने मुख ढँक रखे थे, वे भी सोने के भारी गहनों में छिपे हुए थे। सभी लोग विदेशी यात्रियों की ओर और उन दोनों की ओर भी समान कुतूहल के साथ देख रहे थे।

"इस छोटी-सी घटना ने निवेदिता को विस्मित कर दिया। परन्तु उनके इस विस्मय में और भी वृद्धि होनेवाली थी। उधर बँगले में स्वामीजी अपनी तीन शिष्याओं की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब ये लोग घोड़ेगाड़ी से लम्बी राह चलकर वहाँ पहुँचीं, तो यह देखकर अवाक् रह गयीं कि वही भीड़ और दोनों महिलाएँ बँगले के सामने खड़ी हैं।

"उन सजी-धजी युवतियों की ओर देखकर निवेदिता मुस्कुरायीं और इससे साहस पाकर उन दोनों ने अपना मुख खोला। वे बोलीं, 'हम भी भीतर आकर स्वामीजी के दर्शन करना और उनसे आशीर्वाद पाना चाहती हैं।' इस पर भीड़ गरज उठी – 'पतिता महिलाओ, यहाँ से दूर हट जाओ।'

"क्षण भर के लिए वहाँ उलझन तथा बेचैनी का वातावरण बना रहा। निवेदिता को बाइबिल की एक घटना याद आ गयी। ... एक बार एक दुश्चरित्र महिला को पत्थर मारने के लिए लोग ईसा मसीह के पास ले आये। परन्तु वे बोले, 'तुम लोगों में से जिसने भी कभी कोई पाप न किया हो, वही पहला पत्थर मारे।' ...

"भीड़ का मार्गदर्शन करनेवाले संन्यासियों ने दोनों महिलाओं को भीतर जाने दिया। स्वामीजी के निकट पहुँचकर उन्होंने उनके समक्ष दण्डवत् प्रणाम किया और उनके कार्य में अपने योगदान के रूप में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ उनके चरणों में रख दीं। स्वामीजी ने उनके प्रति जरा-सा भी तिरस्कार या अवज्ञा का भाव न दिखाते हुए; उन्हें आशीर्वाद दिया और कुछ मृदु बातें कहकर उन्हें विदा कर दिया। वे पवित्रतम स्त्रियों के समान ही उनके भीतर भी जगदम्बा के विभिन्न रूपों में से एक भाव की अभिव्यक्ति देखते थे।

"अपने गुरुदेव की उदारता से भक्त और भगवान के संयुक्त हो जाने की इस चामत्कारिक घटना को देखने के बाद

९. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, कोलकाता, २००१, पृ. १८

१०. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1994, P. 234-35

११. The Dedicated, Lizelle Reymond, 1985, p. 102

निवेदिता ने अनुभव किया कि स्वामीजी, स्वयं को जरा भी आरोपित किये बिना, जो प्रेम दे रहे हैं और प्राप्त कर रहे हैं, वैसा ही कुछ उनके हृदय में भी उत्थित हो रहा है। उनके मन में इच्छा हुई कि यदि वे स्वयं ही ये दो पतिता नारियाँ होतीं, तो उन्हें दो बार अपनी अन्तरात्मा में इस करुणा का आस्वाद मिलता और एक देवपुरुष की स्निग्ध दृष्टि का प्रसाद अनुभव किया होता।"[१२]

इस घटना के विषय में भगिनी निवेदिता ने स्वयं लिखा है – "नर्तकियों से सम्बन्धित घटना* हमारे नैनी सरोवर के ऊपर स्थित दो मन्दिरों का दर्शन करते समय हुई थी। ये दोनों मन्दिर स्मरणातीत काल से ही तीर्थ का रूप लेकर सुन्दर नैनीताल को पवित्र बनाये हुए हैं। यहाँ पूजा करते समय हमारी दो नर्तकियों से भेंट हुई। पूजा समाप्त करके वे हमारे पास आयीं और हम अपनी टूटी-फूटी भाषा में उनके साथ वार्तालाप करने में लग गयीं। हमने उन्हें नगर की सम्मानित महिलाएँ समझा और बाद में स्वामीजी द्वारा उन्हें बहिष्कृत करने से इन्कार कर देने पर वहाँ उपस्थित लोगों में जो तूफान मच गया था, उस पर हमें अत्यन्त विस्मय हुआ।

"अगर मैं भूल नहीं करती हूँ तो नैनीताल की इन्हीं नर्तकियों के सन्दर्भ में उन्होंने हमें पहली बार खेतड़ी की नर्तकीवाली घटना सुनायी थी, जो बाद में हमें अनेकों बार सुनने को मिली थी। वे उसका नृत्य देखने का आमंत्रण पाकर पहले तो नाराज हुए थे, परन्तु काफी अनुरोध के बाद वहाँ उनके सभा में जाने पर नर्तकी ने गाया था –

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो,
समदरशी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो ।।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
पारस गुन अवगुन नहीं चितवे, कंचन करत खरो ।।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो,
जब दोनों मिल एक बरन भये, सुरसरि नाम परो ।।
इक माया इक ब्रह्म कहावत सूर-श्याम झगरो,
अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो ।।

"इसके बाद स्वामीजी ने स्वयं बताया कि यह भजन सुनने के साथ ही उनकी आँखों के सामने से मानो एक परदा-सा उठ गया, उन्होंने देखा कि सचमुच ही सब एक हैं और तब से उन्होंने किसी की भी निन्दा करनी छोड़ दी।

"और इस मन्दिर से सम्बन्धित घटना को जया ने किसी अन्य के मुख से सुना कि वक्ता ने जब समवेत महिलाओं के प्रति बिना किसी भेदभाव या तिरस्कार के अपनी शक्तिपूर्ण भाषा में स्नेह तथा कोमलतापूर्ण बातें कहीं, तो वहाँ उपस्थित सबका हृदय आन्दोलित हो उठा था।"[१३] ❖ **(क्रमशः)** ❖

१२. The Dedicated, Lizelle Reymond, 1985, p. 103-04

* मैक्लाउड की जीवनी (Tantine : The life of Josehine Macleod, Ed. 2008, P. 45) में लिखा है कि राजा अजीतसिंह अपने साथ उन नर्तकी बालाओं को अपने साथ लाये थे, परन्तु हमें ऐसा कोई सूत्र नहीं मिला। उपरोक्त वर्णन से संकेत मिलते हैं कि ये नर्तकी बालाएँ स्थानीय थीं और स्वतःप्रवृत्त होकर स्वामीजी के दर्शन हेतु आयी थीं।

१३. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, सं. २००१, पृ. १९-२०

मन का मीत

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मन्दिर देखा मस्जिद देखी,
ना जाने कितने दर हेरे ?
मन का मीत न कोई पाया,
तन के मीत मिले बहुतेरे ।।

शीत तप्त झंझाएँ कितनी,
सहीं कमल ने मुस्काने तक ।
किन्तु न मतलब इससे कोई,
मधुप सनेही मधु पीने तक ।।

मधु पी उड़ा, खबर पंकज की
लेने कभी न आया नेरे ।
मन का मीत न कोई पाया,
तन के मीत मिले बहुतेरे ।।

चढ़ते चन्द्र-वदन को पाकर,
शीश झुका करते अभिनन्दन ।
पूर्णमुखी की बात कहें क्या ।
बनता सारे जग का नन्दन ।।

किन्तु उतरते दिवस देख कर,
कोई न सम्मुख आया तेरे ।
मन का मीत न कोई पाया,
तन के मीत मिले बहुतेरे ।।

दन्ती मरे, मरे या पन्नग,
किसको है परवाह यहाँ पर ।
मुक्ता-मणियाँ ही पाने की,
सबको रहती चाह यहाँ पर ।।

दुख की बात सुने कोई कब ?
धन के चाहनहार घनेरे ।
मन का मीत न कोई पाया,
तन के मीत मिले बहुतेरे ।।

माँ की बातें

महेन्द्रनाथ गुप्त 'म'

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

– १ –

ठाकुर का लीला-संवरण (देहत्याग) होने पर माँ ने कहा – "उनकी माया-देह चली गयी। चिन्मय देह नित्य विराजमान है।" एक बार हृदय ने कहा – "मामी, यदि तुम मामा को पिता कहो, तो मैं तुम्हें पाँच सेर मिठाइयाँ खिलाऊँगा।" माँ ने कहा – "तुम्हें मिठाइयाँ खिलाने की जरूरत नहीं होगी, मैं ऐसे ही कह देती हूँ – पिता, माता, गुरु, सखा, पति – मेरे सब कुछ वे ही हैं।" उन्होंने उन्हें हर अवस्था में पाया था न! माँ का कैसा अद्‌भुत विश्वास है!

कभी-कभी दिखता कि ठाकुर नौबत-खाने में खड़े होकर माँ से बातें कर रहे हैं। माँ के साथ गोलाप-माँ, योगीन-माँ, गौरी-माँ आदि रहती थीं। वृन्दा नौकरानी भी बीच-बीच में अस्थायी रूप से आती थी। साबी की माँ भी रहती। इतना छोटा कमरा और इतने लोग! फिर उसी में सारा सामान भी रहता था।

पत्नी सती-साध्वी हो, तो उसके लिये अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करके जाना चाहिये। ठाकुर स्वयं भी माँ के लिये एक कुटिया और चार सौ रुपये छोड़ गये थे। सखी भाव की साधना के समय मथुर बाबू ने उन्हें जो गहने दिये थे, उन्हें बेचकर ये चार सौ रुपये मिले थे। ये रुपये बलराम बाबू की जमींदारी में जमा थे। जिनका सूद साल में तीस रुपया होता था।[1] बीच-बीच में ठाकुर हम लोगों से पूछते – "अच्छा, एक ब्राह्मण विधवा का मासिक खर्च क्या दो रुपये में चल जायेगा?" एक ओर तो उन्हें दिन-रात का भी होश नहीं, देह पर वस्त्र हैं या नहीं, इसका भी पता नहीं, दूसरी तरफ कितनी चिन्ता! उन्होंने यह सब क्यों किया? ताकि दूसरे लोग इसका पालन करें।

– २ –

ठाकुर माँ को (दक्षिणेश्वर) लाकर आठ महीने अपने ही बिस्तर पर सुलाया। क्यों? भक्तों की शिक्षा हेतु। एक ही बिस्तर पर शयन किया, पर देह-सम्पर्क नहीं था – "रमणी के साथ रहे, किन्तु न करे रमण।" तभी तो भक्तों को साहस मिलेगा, भाई-बहन के समान रहने की प्रेरणा मिलेगी। ... उनका विवाह ही लोकशिक्षा के लिए हुआ था। विवाह के बाद कैसे रहा जाता है, यह वे स्वयं करके दिखा गये।

उन्होंने कितने कष्ट सहे। मथुर बाबू का देहान्त हो गया, दूसरा कोई देखने वाला न रहा। बारह-एक बजे ठण्डा भात खाने को मिलता। चटाई, बिस्तर आदि मलिन तथा फटे हुए। इतना कष्ट था, लेकिन उधर ध्यान ही नहीं था। इसी से तो उनका स्वास्थ्य और खराब हो गया। यही समझकर उन्होंने माँ को लिखा था, "मुझे देखने वाला कोई नहीं है, यदि तुम आ जाओ तो अच्छा हो।" माँ गाँव से आयीं। तब जल्दी पकाकर थोड़ा खिला देतीं।

ठाकुर कहते, "मैंने इस शक्ति (माँ) को सामने रख दिया है, मैं इसी के द्वारा संसार-बन्धन दूर करूँगा।"

माँ वृद्ध हो गयीं। तभी कुछ समय पूर्व ही उन्होंने अपना घूंघट थोड़ा-सा ऊपर किया था। दक्षिणेश्वर में हम लोग पाँच

---

१. सूद साल में नहीं, ६ महीने में ३० रुपये होते थे अर्थात् ५ रुपये मासिक। इसी प्रसंग में स्वामी गम्भीरानन्द ने लिखा – "श्रीरामकृष्ण के मन में यह चिन्ता भी उठती थी कि मेरे तिरोभाव के बाद माँ का भरण-पोषण कैसे होगा। इतने त्यागी होते हुए भी एक दिन उन्होंने माँ से पूछा, 'कितने रुपयों से तुम्हारा खर्च चल जाता है?' माँ ने उत्तर दिया, 'बस, पाँच-छह रुपयों से।' फिर प्रश्न हुआ, 'रात में कितनी रोटियाँ खाती हो?' माँ को लज्जा आई कि खाने के बारे में कैसे बताएँ। उधर श्रीरामकृष्ण पूछते ही गए। माँ बोलीं, 'पाँच-छह रोटियाँ।' तब श्रीरामकृष्ण ने खर्च का हिसाब लगाकर कहा, 'तो पाँच-छह सौ रुपये तुम्हारे लिए काफी होंगे।' बाद में उन्होंने उतने रुपये बलराम बाबू के पास जमा करा दिए। बलराम बाबू ने उसे अपनी जमींदारी में लगा दिया और वे उसका सूद ३० रुपये छमाही श्रीमाँ को भेज देते थे। (द्र: श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, पंचम सं., पृ: ७०-७१)। सरलादेवी के स्मृतियों में इस घटना का एक अन्य रूप मिलता है, "जब मैं नौबतखाने में रहती थी, तो ठाकुर ने एक दिन मुझसे पूछा, 'कितने रुपये में तुम्हारा काम चल जाता है?' ५ या ६ रुपयों में काम चल जाता है – यह जानकर उन्होंने ६०० रुपये जमा करा दिये थे।" माँ के रुपये बलराम बाबू की जमींदारी में जमा थे और ५ रुपये महीने के दर से उसका सूद मिलता। माँ इन रुपयों को अपने रुपये कहतीं।" ('मातृ-दर्शन', बँगला ग्रन्थ, संकलक – स्वामी चेतनानन्द, चौथा सं., उद्‌बोधन कार्यालय, पृ: ६८)

वर्ष तक उन्हें नहीं देख सके। हम लोग ठाकुर के मुख से केवल इतना ही सुनते, 'रामलाल की चाची'। एक दिन मैंने पूछा – "रामलाल की 'चाची' कौन?" ठाकुर बोले – "वही जो नौबतखाने में रहती है।" जिन्हें जीवन का ध्रुवतारा माना, ३५ वर्ष जिनके सान्निध्य में रहा, जो जीवन की पथ-प्रदर्शक थीं – उन्हीं को नहीं देख सका! ठाकुर के चले जाने के बाद उनका श्रीमुख देख सका – बहुत दिनों के बाद ठाकुर का तो केवल ५ वर्ष ही सान्निध्य मिला – माँ का ३५ वर्ष।

ठाकुर ने माँ से कहा था – "यह रहा तुम्हारा मिट्टी का घर। साक-भात पकाकर खाना और सारे दिन हरिनाम करना।" साक-भात की जगह भले ही दाल-भात मिल जाय, परन्तु कमरा अपना होना चाहिये। इतना ही पर्याप्त है। केवल भात भी कितने लोगों को खाने को मिल पाता है! इसलिये माँ ने कामारपुकुर का वह घर हमेशा बनाये रखा।"

एक बार माँ ने एक भक्त-महिला से कहा – "बेटी, कितने ही साधु देखे, पर ठाकुर के साथ उनकी कोई तुलना नहीं।" भक्त-महिला बोली – "माँ! आप कहती क्या है? अन्य साधु उद्धार पाने के लिये आते हैं और ये आये हैं उद्धार करने के लिये।" माँ ने हँसते हुए कहा – "ऐसा ही तो है, बेटी!" माँ ने भक्त-महिला की परीक्षा के लिये ऐसा कहा था।

जो लोग केवल सच्चे साधु खोजते फिरते हैं, वे लोग ठगे जाते हैं। स्वयं क्या हैं, इस ओर ध्यान नहीं, मुड़कर एक बार अपनी ओर देखते भी नहीं। ठाकुर कहते – मनुष्य दोष-गुण से ही बना है। निर्दोष है एकमात्र ईश्वर – अवतार, ठाकुर। अहा, माँ ने कहा है – "चन्द्रमा में भी बल्कि कलंक है, लेकिन रामकृष्ण-शशी में कलंक नहीं है।"

हम लोग कभी-कभी नौकरों के हाथ सामान भिजवा देते। माँ उसे आसन पर बैठाकर ठाकुर का उत्तम प्रसाद खिलाकर तृप्त करतीं। सामने बैठाकर खिलातीं। अन्य लोगों के समान नहीं – नौकरों के लिये एक तरह का और अपने लिये अन्य तरह का। माँ के पास वैसा नहीं था – सभी एक थे।

एक बार मठ से एक गाय लाकर उद्बोधन-भवन में रखने की बात चली। माँ ने यह सुनते ही कहा – 'नहीं, नहीं, वे लोग वहाँ गंगादर्शन कर रही हैं, स्वाधीन रूप में विचरण कर रही हैं। साधुसंग हो रहा है। और यहाँ लाकर गले में रस्सी डालकर रखोगे। यह नहीं होगा। ऐसा दूध मैं नहीं पी सकूँगी।" माँ ने गाय नहीं लाने दिया। इसी से समझा जा सकता है कि माँ चीटियों की भी माँ हैं।

माँ ने एक व्यक्ति से कहा था – "बेटा, विवाह मत करना, मत करना; नहीं तो रात में शान्ति से सो नहीं सकोगे। इस ज्वलन्त अग्निकुण्ड में मत घुसना बेटा।" एक व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली है – यह देखकर माँ ने कहा, "ले ले बेटा, अब रात में चैन से सो सकेगा।"

एक बार माँ अशुभ दिन दक्षिणेश्वर आयी थीं। इसलिये दो दिन बाद ठाकुर ने उन्हें यात्रा बदलकर फिर से आने के लिये गाँव भेज दिया। माँ बड़ी अभिमानिनी थीं, दो वर्ष वहाँ आयी ही नहीं। उसके बाद सहसा ठाकुर ने लिखा – "हृदय चला गया है। मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। देखभाल करने वाला कोई नहीं। तुम शीघ्र चली आओ।" खबर पाते ही माँ चली आयीं। अहा, माँ ने भक्तों को कैसे स्नेह-बन्धन में बाँधकर रखा था, यह कहकर बताने की चीज नहीं है![२]

एक बार पाँच लड़के दीक्षा के लिये गये। उनमें से एक कुछ भिन्न प्रकार का था। उसे बाहर बैठा दिया गया कि उसके भीतर जाने से मन्दिर अपवित्र हो जायेगा। लड़का बाहर बैठकर रो रहा था। माँ ने कमरे में जाकर केवल चार ही लड़कों को देखकर पूछा कि पाँचवाँ लड़का कहाँ है? उन लोगों ने बताया, "वह धोबी है, बाहर बैठा है।" सुनते ही माँ दौड़कर बाहर आयीं और "आओ बेटा, कमरे में आओ" – कहकर उसे अन्दर ले गयीं। वह अन्दर आने को तैयार नहीं था। हाथ जोड़कर रोते-रोते बोला – "नहीं माँ, नहीं।" परन्तु माँ ने एक न सुनी। सबके साथ उसे भी दीक्षा दिया।

माँ के पास एक भक्त-डॉक्टर आते थे। उनके घर में माँ, पत्नी तथा दो-तीन वर्ष की एक पुत्री थी। घर में खेती-बारी थी। खाने-पीने का कोई अभाव नहीं था। एक दिन माँ के पास जाकर बोले – "मुझे संसार अच्छा नहीं लगता।" माँ ने कहा – "ठीक है, दो दिन सब्र करो।" इसी बीच डॉक्टर ने माँ से चर्चा करके निश्चय कर लिया कि वे संसार का त्याग करेंगे। दो-तीन बाद स्नान करके आने पर माँ ने उन्हें बुलाकर संन्यास दिया। उनकी दीक्षा पहले ही (माँ से) हो चुकी थी। कुछ दिन वे वहीं (माँ के पास) ठहरे। खबर पाकर डॉक्टर की माँ तथा पत्नी, पुत्री को लेकर आ पहुँचीं। पत्नी ने कहा, "हम लोगों का क्या होगा? "माँ ने उत्तर दिया, "क्यों? तुम

२. माँ के 'यात्रा बदलने' तथा 'हृदय के चले जाने' की – ये दोनों घटनायें भिन्न-भिन्न समय की हैं। माँ जब चौथी बार (फरवरी/मार्च, १८८१ ई. में) वहाँ आयी थीं, तब हृदय के दुर्व्यवहार के कारण गाँव लौट गयीं। हृदय दक्षिणेश्वर से मई-जून (१८८१) में हटाये गये। इसके बाद ठाकुर के बुलावा भेजने पर वे पाँचवी बार (फरवरी/मार्च, १८८२ में) आयी थीं। पर छठवीं बार (१८८४ ई. में) जब आयीं, उस समय ठाकुर के बाँये हाथ की हड्डी खिसकी हुई थी और उसी बार ठाकुर ने पूछा था, "तुम वहाँ से कब चली थी?" यात्रा का दिन जानने के बाद उन्होंने माँ से लौटकर यात्रा बदल आने को कहा था। (द्र: श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग (बंगला), स्वामी सारदानन्द, 'साधकभाव' २३वाँ पुनर्मुद्रण, उद्बोधन कार्यालय, पृ. २३५; श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, पंचम सं., पृ ६१; शतरूपे सारदा (बँगला), स्वामी लोकेश्वरानन्द सम्पादित, १म सं., पृ. ८०१-८०२)

लोगों को खाने-पहनने का कोई कष्ट तो है नहीं। वह अपना काम कर रहा है, तुम लोग अपना काम करो।'' उनकी पत्नी ने अपने सारे गहने माँ को देने की इच्छा व्यक्त की। माँ ने मना करते हुये कहा – ''ऐसा क्यों होगा? तुम लोग अपने भाव में रहो और वह अपने भाव में रहे।''

अहा ! स्त्री होकर ऐसी बातें कहना ! ठाकुर की सहधर्मिणी के सिवा और कौन कह सकता है !

डॉक्टर के घर के पास ठाकुर के नाम पर एक आश्रम था। वह नष्ट होता जा रहा था। माँ ने उसे वहीं भेज दिया। माँ जानती थीं कि वह वीर भक्त है, इसलिये उसे वहाँ भेज दिया। डॉक्टर की माँ बीच-बीच में देखने आती, साथ में कभी-कभी पत्नी भी आती। आश्रम गढ़ उठा। उसने डॉक्टरी आरम्भ कर दी। उनकी फीस आठ रुपये थे और गरीब होने से नि:शुल्क। धनी होने पर कहते – ''इतने रुपये लिये बिना मरीज देखने नहीं जाऊँगा।'' सात-आठ बच्चे वहाँ रहकर पढ़ाई कर रहे थे। बेलूड़ मठ के भी चार-पाँच साधु वहाँ रहते थे। मासिक खर्च तीन सौ रुपया था। संन्यासी होकर भी आश्रम के लिये रुपये कमाते थे।[३] उन्होंने बहुत कार्य किये। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने को कहा था; और उद्धव को (तपस्या हेतु) बदरिकाश्रम जाने को कहा था।

माँ ने चार बातें कही थीं। पहली – ''जो पूर्णकाम हैं, उनकी भक्ति अहैतुकी है। उन्हीं को ईश्वरकोटि कहते हैं।'' दूसरी – ''जिसके हो, वह मापे; जिसके नहीं है, वह जपे।'' अर्थात् जिनकी दान करने की शक्ति है, वह दान करेगा। मापने का अर्थ है देगा। दान करना यानी भगवद्-बुद्धि से सेवा-पूजा करना। अगर ऐसी शक्ति नहीं है, तो बैठे-बैठे जप करो। तीसरी – ''चीजें इतनी हैं कि जमा होती जा रही हैं, परन्तु स्वभाव कहाँ बदलता है?'' तात्पर्य यह कि इतनी ईश्वरी बातें सुनते हो, तो भी कुछ नहीं हो रहा, क्योंकि प्रकृति जो खींच रही है !... चौथी – यदि ऐसी अचेत अवस्था में मृत्यु हो जाय, जिसमें बाह्य चेतना लुप्त हो गयी है, तो उसका क्या फल होगा? इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा था – ''मृत्यु के समय अचेत होने पर दोष नहीं। यदि अचेत होने के पहले यदि वह ईश्वर का नाम स्मरण करता रहा, तो उसी से हुआ। उत्तम फल होगा।''

साधु के आश्रम में जाकर सेवा करनी चाहिये। वे लोग दौड़-धूप कर रहे हैं और उसी समय कोई व्यक्ति जाकर ध्यान -जप करे, ऐसा नहीं होता। एक बार कुछ भक्त-स्त्रियाँ माँ के पास गयीं। सभी बैठकर आँखें-मूँदे ध्यान कर रही थीं। माँ तब गोबर से फर्श लीप रही थीं। एक भक्त-महिला उठी ओर माँ के साथ फर्श लीपने लगी। माँ बोलीं – ''तुम आ गई, वे सभी ध्यान कर रही हैं।'' महिला ने कहा – ''छी ! ऐसे ध्यान के मुँह में आग लगे। तुम गोबर से लीप रही हो और मैं बैठी-बैठी ध्यान करूँगी ! मुझसे यह नहीं होगा।'' इसी ने ठीक समझा था कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं।[४]

माँ पहली बार राजू गोमास्ता के मकान में थीं। दूसरी बार 'मड़ापोड़ार घाट' पर। तीसरी बार नीलाम्बर मुखर्जी के भवन में। ये तीनों स्थान बेलूड़ में है। चौथी बार बागबाजार के एक बड़े गोदाम भवन के मन्दिर के पास के ऊपरी कमरे में। नीचे गोदाम – पटसन की गाँठों से भरा हुआ। उसी के भीतर से ऊपर जाने का रास्ता था। पाँचवी बार – गिरीश बाबू के मकान के सामने और छठवीं बार, निवेदता के निवास के पास। तत्पश्चात् 'माँ का घर' (उद्बोधन) बना।[५]

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

३. इन संन्यासी का नाम था स्वामी महेश्वरानन्द। वे 'डॉक्टर महाराज' या बैकुण्ठ महाराज के नाम से सुपरिचित थे। चिकित्सक के रूप में वे काफी विख्यात थे। १९१३ ई. में उन्हें माँ से दीक्षा मिली। उसी वर्ष पूजा के समय माँ ने उन्हें गेरुआ दिया था। उनका आनुष्ठानिक संन्यास स्वामी ब्रह्मानन्दजी से १९१८ ई. में हुआ। बाँकुड़ा उनका पूर्वाश्रम था। वे ही वहाँ के आश्रम के वास्तविक संस्थापक थे। बाद में वे ही बाँकुड़ा जिले के रामहरिपुर आश्रम के भी संस्थापक हुए।

४. वह भक्त-महिला श्रीम की सहधर्मिणी – निकुंज देवी ही थीं।

५. श्रीम की कथन में थोड़ी असंगति है। १८८८ ई. के मई-जून में माँ बेलूड़ के नीलाम्बर बाबू के मकान में छह महीने रही। इसके बाद विभिन्न समय बेलूड़ में राजू गुमास्ता के मकान में (सम्भवत: १८९० के प्रारम्भ में), घुसुड़ी अंचल के श्मशान के पास 'मड़ापोड़ार घाट' पर (मई-जून १८९० में), बाद में फिर नीलाम्बर बाबू के बगीचे में (जून-जुलाई १८९३) माँ रहीं। बागबाजार के जिन तीनों स्थानों का श्रीम ने उल्लेख किया है, उनमें प्रथम है सरकार-बाड़ी लेन में गोदाम भवन (१८९६ के मई के उत्तरार्ध में), द्वितीय १०/२ बोसपाड़ा लेन (मार्च १८९८) और तृतीय १६ ए, बोसपाड़ा लेन (अक्तूबर १९००)। इसके अतिरिक्त १९०४ जनवरी से एक वर्ष माँ २/१ बागबाजार स्ट्रीट के 'नीलमणि-शान्तिधाम में रहीं। किराये के मकान में रहने के अलावा वे बीच-बीच में बलराम बसु भवन में, श्रीम के मकान में तथा बागबाजार के और भी कई मकानों में माँ ने निवास किया था।

साधना के सूत्र (३)

स्वामी माधवानन्द

बेलूड़ मठ, शुक्रवार, २८ दिसम्बर, १९६२

उनके प्रति भक्ति होने से व्याकुलता आती है। जैसे किसी व्यक्ति को पानी में डुबाकर रखा जाय, तो वह वायु के लिये हाँफ उठता है, तब साधक की भी वैसी ही अवस्था होती है। तब भगवान का दर्शन प्राप्त होता है।

ठाकुर ने अपने मुख से कहा है कि जो राम हुए थे, जो कृष्ण हुए थे, वे ही इस बार रामकृष्ण हुए हैं। स्वामीजी ने कहा है कि पुन: नया अवतार होकर आने तक वे सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहेंगे।

भाव के साथ किया जाय, तो सभी कार्य उनकी पूजा में परिणत हो जाते हैं। सभी कार्यों के दौरान उनका स्मरण-मनन करते रहना। कमल के पत्ते पर जल रहता है, परन्तु वह गीला नहीं होता। इसी प्रकार अनासक्त भाव से संसार में कैसे रहा जाय, यह ठाकुर तथा माँ अपने जीवन तथा कार्यों के द्वारा हम लोगों को दिखा गये हैं। अज्ञान ने हमें मोहग्रस्त कर रखा है, इसीलिये हमारी यह दुरवस्था है।

भगवान हमारे सर्वाधिक अपने जन हैं। वे प्रेममय हैं। परन्तु इसके बावजूद संसार में इतने दु:ख-कष्ट क्यों हैं? इसके कई कारण हैं। हमें अपने पहले की कामनाओं तथा किये हुए कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख का भोग करना पड़ता है। उनकी दया होने पर ज्ञान, भक्ति आदि सब कुछ प्राप्त होता है। परन्तु इसका रहस्य है व्याकुलता। उनकी ओर मन लगे, तो वे प्रसन्न होते हैं।

स्वामीजी ने कहा है कि गाय कभी झूठ नहीं बोलती, दीवार चोरी करने नहीं जाती; परन्तु गाय गाय ही रहती है और दीवार दीवार ही रहती है। मनुष्य अन्याय करता है; परन्तु भक्ति-विश्वास के बल पर ज्ञान-प्राप्ति भी करता है। हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) कहते थे – यह कैसे होता है, जानते हो? यह कपड़े में साबुन लगाने के समान है। पहले तो समझ में ही नहीं आता कि इतना मैल कैसे दूर होगा। परन्तु धोते-धोते सारा मैल अलग हो जाता है। तब कपड़ा कितना स्वच्छ दिखने लगता है। तब बिल्कुल ही उल्टा हो जाता है। देखकर कल्पना ही नहीं होती कि यह कपड़ा पहले इतना मैला था।

बेलूड़ मठ, १२ जनवरी, शनिवार, १९६३

वर्तमान युग में कठोर शारीरिक तपस्या की जरूरत नहीं। और केवल बाहर से कठोरता करने से उन्हें पाया भी नहीं जा सकता। जंजीर को पकड़कर पानी के नीचे चलने के समान उनके नाम का जप करते हुए आगे बढ़ते जाना होगा। भगवान की सारी शक्ति उनके नाम में ही है। नाम में ही विश्वास तथा एकाग्रता की जरूरत है। विभीषण ने राम-नाम लिखकर एक व्यक्ति के कपड़े की छोर में बाँध दिया था और कहा था – इसी पर विश्वास करके समुद्र के ऊपर से होकर पैदल चले जाओ; डूबने की कोई आशंका नहीं है।

परन्तु उनकी प्राप्ति नहीं हुई, इस कारण हताश मत होना। मन की कामनाएँ दूर हुए बिना आसानी से उनका दर्शन या कृपा नहीं मिलती। हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) कहते थे – भगवान कोई साँप तो हैं नहीं, जो मंत्र पढ़ते ही चले आयेंगे। वे अत्यन्त अपने जन हैं। दयाघन की मूर्ति हैं। प्रेम की साकार प्रतिमा हैं। प्रेम की डोर से ही उन्हें बाँधे रखना होगा।

वे भीतर-बाहर – सर्वत्र विराजित हैं। उसी प्रकार, जैसे नीबू का शरबत बनाते समय उसमें नीबू का रस मिलाते हैं। इसलिये उनके चिन्तन के द्वारा अब नये भाव से जीवन-गठन करने का प्रयास करना होगा। ठाकुर कहते थे – श, ष, स – सहन करो, सहन करो, सहन करो। गृही जीवन में भी सहनशीलता की परम आवश्यकता है।

सत्कार्य, सच्चिन्तन तथा प्रार्थना – इनके द्वारा भगवान की भक्ति होती है। आग को प्रारम्भ करना बड़ा कठिन होता है। वैदिक युग में काठ से काठ को घिसकर आग निकाला जाता था। इस भक्ति-विश्वास की अग्नि को बुझने से बचाना होगा। ठाकुर कितना आश्वासन दे गये हैं। मनुष्य बड़ा दुर्बल है। वह इतने अन्याय करता है, परन्तु वह अपने प्रयास तथा भगवान की कृपा से भगवान की प्राप्ति भी कर सकता है।

बेलूड़ मठ, १६ जनवरी, बुधवार, १९६३

भगवान की कृपा से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है। उनसे भगवान के प्रिय नामरूपी महामंत्र को प्राप्त करके साधना करनी पड़ती है। उनके दर्शन के लिये प्रयास करना पड़ता है। स्मरण रखना, आध्यात्मिक जीवन गठन करने के लिये पवित्रता, धैर्य तथा अध्यवसाय – इन तीन चीजों की विशेष आवश्यकता है।

थोड़ा-सा प्रयास करने के बाद, कुछ तो नहीं हुआ – ऐसा सोचकर छोड़ मत देना। साधना किये जाओ। धैर्य न खोना। ठीक कार्य होने पर एक मिनट की भी देरी नहीं

होगी। पूरा मन लगाकर उन्हें पुकारना चाहिये। नाम के भीतर सारी शक्ति विद्यमान है। चलते-फिरते उनका नाम जपना। पानी के भीतर डुबाकर रखने से, जैसे लगता है कि प्राण अब गये, तब गये; ईश्वर-दर्शन के लिये वैसी ही व्याकुलता की आवश्यकता है।

भगवान एक हैं। उनके अनेक नाम हैं। किसी भी नाम से उन्हें पाया जा सकता है। ठाकुर सभी मतों की साधना करके अपने अनुभव से कह गये हैं – चाहे जिस भी मार्ग से जाओ, उन्हें अवश्य ही पा सकोगे। परन्तु कितने लोग उन्हें ठीक-ठीक चाहते हैं ! उन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर यह बता दिया है कि कौन-सी सत्य वस्तु है और कौन-सी असत्य। वे मानो आँखों में उँगली डालकर यह भी समझा गये हैं कि किस तरह से साधना करने पर शीघ्र फल-प्राप्ति होगी और इसमें देरी क्यों होती है।

मनुष्य पूरी तौर से परमहंस होकर तो आया नहीं है। थोड़ी-बहुत दोष-त्रुटियाँ तो उससे होंगी ही। परन्तु व्यक्ति इस कारण हीन नहीं हो जाता। स्वामीजी ने कहा है – स्वयं को कभी छोटा नहीं समझना चाहिये। सोचना चाहिये कि मेरे लिये असम्भव जैसा कुछ भी नहीं है – मैं उनकी कृपा से सब कुछ करने में समर्थ हूँ। फिर उन्होंने यह भी कहा है कि जगत् में भगवान को छोड़ और कुछ भी नहीं है। साधारण व्यक्ति संसार को देखता है, परन्तु योगी सर्वत्र भगवान को ही देखता है। सभी अपने-अपने संस्कार तथा दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को देखते हैं। पिछले कर्मों के फल के अनुसार हमें वर्तमान संस्कार प्राप्त हुए हैं। फिर वर्तमान कर्मों के फल के अनुसार हमारे भविष्य के संस्कार बनेंगे। इसलिये हताश होने की कोई बात नहीं। वे भीतर-बाहर सर्वत्र हैं। मानो छिपकर खेल कर रहे हैं, जादू दिखा रहे हैं।

इसीलिये छोटे शिशु के समान स्पष्ट कहना – मैं कुछ भी नहीं जानता। तुम्हीं मेरा हाथ पकड़कर खींचो और ऊपर उठा लो।

बेलूड़ मठ, २१ जनवरी, सोमवार, १९६३

भक्ति का मार्ग सहज तथा इस युग के लिये उपयोगी है। उनसे प्रेम करना होगा। उन पर किसी प्रकार प्रेम हो जाय, तो सब सहज हो जाता है।

विभिन्न नाम होने के बावजूद, भगवान दस नहीं, एक ही हैं। कोई उन्हें पिता कहता है, तो कोई माता। ठाकुर कहा करते थे – एक ही तालाब के अनेक घाट हैं। सभी लोग भिन्न-भिन्न घाट से पानी ले रहे हैं। फिर अपनी भाषा के अनुसार पानी के ही विभिन्न नाम बता रहे हैं। माँ जानती है कि किसके पेट में क्या सहता है, अत: वह उसी के अनुसार व्यंजन बनाने की व्यवस्था करती है।

'इष्ट' शब्द का अर्थ है – 'प्रिय'। वे सभी की अपेक्षा प्रियतम हैं। इसलिये उन्हें अनुराग के साथ पुकारना होगा। मंत्र में खूब विश्वास रखना। नाम और नामी अभेद हैं। भगवान ने कृपा करके अपने प्रिय नाम के भीतर सारी शक्तियाँ भर दी हैं। वटवृक्ष का बीज देखने में कितना छोटा होता है। परन्तु उसी से कितना विशाल वृक्ष होता है। परन्तु बीज लगाते ही तो पेड़ हो नहीं जाता। उसे कोई प्रतिदिन खोदकर नहीं देखता कि वृक्ष हो रहा है या नहीं। उसकी देखभाल और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार मंत्र के प्रति सन्देह या अविश्वास मत लाना। बीजमंत्र सत्य है, परीक्षित सत्य है।

फिर आत्मविश्वास भी चाहिये। स्वयं के ऊपर खूब विश्वास चाहिये। अपने को कभी हीन नहीं समझना चाहिये। मन में किसी प्रकार की हताशा का भाव मत आने देना। शास्त्र तथा गुरुवाक्य में खूब विश्वास रखना। क्रमश: उनकी दया की खूब अनुभूति होगी। विलम्ब हो सकता है, परन्तु इसके लिये चिन्ता न करना।

बेलूड़ मठ, २५ जनवरी, शुक्रवार, १९६३

ठाकुर इस बार जगद्गुरु होकर आये थे। माँ उनकी द्वितीय मूर्ति हैं। देखो न, हमारे लिये वे कितना परिश्रम कर गयीं। उन दोनों के स्थूल-शरीर शान्त हो जाने पर भी सूक्ष्म-शरीर में वे अब भी हैं – यह स्वयं स्वामीजी की बात है। वे अब भी दर्शन देते हैं।

तो फिर हम उनका दर्शन क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं। इसलिये कि हम उसके लिये तैयार नहीं हैं। वे तो सर्वदा कृपा करने को प्रस्तुत हैं, परन्तु सूई पर मैल लगी हो, तो चुम्बक उसे नहीं खींचता। यहाँ भी वही बात है।

उन्होंने हमें तीन आकर्षणों की बात बतायी है – सती का पति के ऊपर, विषयी का विषय के ऊपर और माँ का अपने सन्तान के ऊपर। इन तीनों आकर्षणों के एकत्र होने पर ही वे प्राप्त होते हैं।

समुद्र में स्नान करना कठिन है। कुछ लोग तरंगों के बावजूद भलीभाँति स्नान कर लेते हैं। वैसे ही इस संसार में सैकड़ों बाधा-विघ्नों के बावजूद उनका दर्शन पाया जा सकता है। अन्नपूर्णा के मन्दिर में कोई भी भूखा नहीं रहता। परन्तु क्या संध्या होने तक प्रतीक्षा करना उचित है? आग्रह तथा व्याकुलता के द्वारा उन्हें पहले ही पा लेना होगा।

(बँगला पुस्तक 'भक्त्या माम् अभिजानन्ति' से अनूदित)
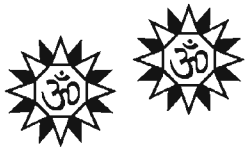
स्वामीजी के साथ दो-चार दिन

हरिपद मित्र

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

❖ **(गतांक से आगे)** ❖

यदि स्वामीजी की प्रतिदिन की बातें एकत्र की जातीं, तो हर रोज की एक-एक पुस्तक बन जाती। एक ही प्रश्न का हर बार एक ही प्रकार से उत्तर देना तथा एक ही दृष्टान्त की सहायता से समझाना उनकी रीति नहीं थी। वे जितनी बार भी उस प्रश्न का उत्तर देते, उतनी बार उसे नये ढंग से तथा नये दृष्टान्तों के द्वारा उसे बताने की उनमें ऐसी क्षमता थी कि वह लोगों को पूरी तौर से नया ही प्रतीत होता और उनकी बातें सुनने से थकान आना तो दूर रहा, सुनने के लिये आग्रह तथा रुचि में क्रमशः वृद्धि होती जाती। उनकी व्याख्यान देने की भी यही शैली थी। वे पहले से सोचकर, उसके मूल बिन्दुओं को लिखकर कभी व्याख्यान नहीं दे पाते थे। व्याख्यान प्रारम्भ करने के अन्तिम क्षण पूर्व तक वे व्यंग-विनोद, सामान्य बातचीत तथा व्याख्यान से पूर्णतः असम्बद्ध विषयों पर चर्चा करते रहते थे। वस्तुतः उन्हें स्वयं ही नहीं मालूम रहता था कि व्याख्यान में वे क्या कहेंगे। अस्तु, जिन कुछ दिनों तक हम लोग उनके सान्निध्य में रहकर धन्य हुए, उन्हीं दिनों की बातचीत का विवरण यथासम्भव लिपिबद्ध करता हूँ।

मैं पहले बता चुका हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म को समझाने और विज्ञान तथा धर्म का सामंजस्य दिखाने में स्वामीजी के जैसा दूसरा कोई भी मुझे नहीं मिला। अब उसी विषय पर दो-चार बातें लिखता हूँ। परन्तु यहाँ यह जान लेना होगा कि मुझे जैसा याद है, वैसा ही लिख रहा हूँ। अतः यदि इसमें कोई भूल हो, तो वह स्वामीजी की व्याख्या की नहीं, अपितु मेरी समझ की ही भूल है।

स्वामीजी कहते थे – "चेतन-अचेतन, स्थूल-सूक्ष्म – ये सभी पूरा जोर लगाकर एकत्व की ओर दौड़ रहे हैं। पहले मनुष्य को जितने भी प्रकार की वस्तुएँ देखने को मिलीं, उसने प्रत्येक को भिन्न मानकर उन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिये। बाद में उसने विचार करके निश्चित किया कि ये सारे पदार्थ ९३ मूल द्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं।

"अब बहुत-से लोगों को सन्देह हो रहा है कि इन मूल पदार्थों में भी अनेक मिश्र पदार्थ (compounds) हैं। जब रसायन-शास्त्र अपने अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचेगा, तब सभी वस्तुएँ एक ही पदार्थ के अवस्था-भेद मात्र समझे जायेंगे। पहले लोग ताप, प्रकाश तथा विद्युत (heat, light and electricity) को भिन्न-भिन्न चीजें समझते थे। परन्तु अब प्रमाणित हो गया है कि ये सब एक हैं और एक ही शक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। पहले लोगों ने सभी पदार्थों को चेतन, अचेतन तथा वनस्पति – इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया। उसके बाद देखा गया कि वनस्पति में भी प्राण हैं, केवल अन्य चेतन प्राणियों के समान गमन-शक्ति मात्र नहीं है। तब केवल दो ही श्रेणियाँ रह गयीं – चेतन और अचेतन। कुछ दिनों बाद फिर देखा जायेगा कि हम लोग जिन्हें अचेतन कहते हैं, उनमें भी थोड़ा-बहुत चैतन्य है।*

पृथ्वी पर हम लोग जो ऊँची-नीची जमीन देखते हैं, वह भी निरन्तर समतल होकर एक रूप में परिणत होने का प्रयास कर रहा है। वर्षा का पानी पर्वत आदि ऊँचे स्थानों से मिट्टी लाकर घाटियों को पाट रहा है। कहीं कोई गरम वस्तु रखने पर, वह क्रमशः अपने चारों ओर की वस्तुओं के समान ताप धारण करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार उष्णता की शक्ति संचलन, संवहन तथा विकिरण (conduction, convection, and radiation) आदि उपायों के माध्यम से सर्वदा समभाव या एकत्व की ओर अग्रसर हो रही है।

"वृक्ष के फल, फूल, पत्ते, जड़ हमें भिन्न-भिन्न दिखते हैं, परन्तु विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है कि वस्तुतः वे एक हैं। प्रिज्म या त्रिकोणीय काँच के भीतर से देखने पर सफेद प्रकाश इन्द्रधनुष के सात रंगों के समान अलग-अलग विभाजित दिखायी देता है। नंगी आँखों से देखने पर एक रंग

* स्वामीजी ने जब ये बातें कहीं, तब तक जगदीश चन्द्र बोस का 'विद्युत-प्रवाह जोड़ने से जड़ वस्तुओं का चेतन के समान व्यवहार' नामक प्रयोग प्रकाशित नहीं हुआ था।

का दिखाई देता है, परन्तु लाल या नीले चश्मे से देखने पर सब कुछ लाल या नीला दिखाई देता है।

"इसी प्रकार सत्य एक ही है। उसी को हम माया के माध्यम से अलग-अलग देखते हैं। यद्यपि स्थान-काल से अतीत अखण्ड अद्वैत सत्य के आधार पर ही मनुष्य को सभी प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान होता है, तथापि वह न तो उस सत्य को पकड़ पाता है और न ही देख पाता है।"

ये सारी बातें सुनने के बाद मैं बोला – "स्वामीजी, हम लोगों की आँखों से देखा हुआ ही क्या सर्वदा यथार्थ सत्य होता है? समानान्तर जानेवाली रेल की दो लाइनें, ऐसी दिखती हैं मानो क्रमश: आगे जाकर वे एक जगह आपस में मिल गयी हैं। मृग-मरीचिका, रस्सी में साँप का भ्रम आदि optical illusion (दृष्टिभ्रम) सदैव होता रहता है। Fluorspar नामक पत्थर के नीचे की एक रेखा double refrection (द्वि-आवर्तन) के कारण दो दिखायी देती है। एक पेंसिल को आधे गिलास पानी में डुबाकर रखा जाय, तो पेंसिल का जलमग्न भाग ऊपरवाले भाग की अपेक्षा मोटा दिखायी देता है। विभिन्न प्राणियों की आँखें भी भिन्न-भिन्न क्षमताओं की लेंस मात्र हैं। किसी चीज को हम लोग जितना बड़ा देखते हैं, घोड़े आदि अनेक प्राणी उसे उसकी अपेक्षा अनेक-गुना बड़ा देखते हैं, क्योंकि उनके नेत्रों के लेंस भिन्न क्षमतावाले हैं। अत: इसका कोई प्रमाण नहीं है कि हम लोग अपनी आँखों से जो देखते हैं, वही सत्य है। जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना है – मनुष्य 'सत्य'-'सत्य' कहकर पागल हो रहा है, परन्तु absolute Truth (पूर्ण सत्य) को समझने की क्षमता उसमें नहीं है, क्योंकि घटनाक्रम से यदि वास्तविक सत्य मनुष्य को प्राप्त भी हो जाय, तो यह वह कैसे समझेगा कि वही वास्तविक सत्य है? हम लोगों का सारा ज्ञान relative (सापेक्षिक) है, absolute (पूर्ण) को समझने की हममें क्षमता नहीं है। अत: absolute (पूर्ण) भगवान या जगत्-कारण को मनुष्य कभी समझ नहीं सकेगा।"

स्वामीजी बोले – "तुमको या अन्य सामान्य लोगों को पूर्ण सत्य का ज्ञान नहीं भी हो सकता है, परन्तु किसी को नहीं हो सकता, यह भला तुम कैसे कह सकते हो? ज्ञान तथा अज्ञान या मिथ्या-ज्ञान नामक दो अवस्थाएँ हैं। जिसे तुम लोग ज्ञान कहते हो, वस्तुत: वह मिथ्या-ज्ञान है। सत्य-ज्ञान का उदय होने पर वह लुप्त हो जाता है और तब सब एक दिखायी देता है। द्वैत-ज्ञान अज्ञान से उत्पन्न हुआ है।"

मैं – "स्वामीजी, यह तो बड़ी भयानक बात है! यदि ज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान ये दो चीजें हों, तब तो आप जिसे सत्य-ज्ञान सोच रहे हैं, वह भी तो मिथ्या-ज्ञान हो सकता है; और हमारे जिस द्वैत-ज्ञान को आप मिथ्या-ज्ञान कह रहे हैं, वह भी तो सत्य हो सकता है?"

स्वामीजी – "ठीक कहते हो, इसीलिये तो वेद में विश्वास करना चाहिये। पूर्वकाल में हमारे ऋषि-मुनिगण उस अद्वैत सत्य का अनुभव करके उसे बता गये हैं, उसी को वेद कहते हैं। स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं में से कौन-सी सत्य है और कौन-सी असत्य – इतना भी विचार करके कहने की क्षमता हममें नहीं है। जब हम इन दोनों अवस्थाओं के पार जाकर – इन दोनों अवस्थाओं की परीक्षा करके नहीं देख सकेंगे, तब तक हम कैसे कह सकेंगे कि कौन-सी सत्य है और कौन-सी असत्य? अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दो भिन्न अवस्थाओं का अनुभव हो रहा है। जब एक अवस्था में रहते हो, तब तक दूसरा भूल प्रतीत होता है। सपने में सम्भव है कि तुमने कलकत्ते में जाकर खरीदारी की और उठकर देखते हो कि बिस्तर पर लेटे हुए हो। जब सत्य-ज्ञान का उदय होगा, तब एक से भिन्न दूसरा नहीं दिखायी देगा और पहले के द्वैत-ज्ञान को मिथ्या समझ सकोगे। परन्तु यह सब बड़ी दूर की बात है, अक्षर-ज्ञान सीखते-न-सीखते ही रामायण-महाभारत पढ़ने की इच्छा करने से कैसे काम चलेगा?

"धर्म बुद्धि के द्वारा समझने की नहीं, अपितु अनुभूति की चीज है। इसकी सत्यता या असत्यता को जानने के लिये इसका अभ्यास करना होगा। यह बात तो तुम्हारे पाश्चात्य रसायन (chemistry), भौतिकी (physics), भूतत्त्व (geology) आदि विज्ञानों द्वारा भी अनुमोदित है। दो बोतल हाइड्रोजन और एक बोतल आक्सीजन लेकर 'पानी कहाँ है' कहने से क्या पानी बन जायेगा। उसके लिये तो दोनों को किसी मजबूत बर्तन में डालकर उसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित करके उनका मिश्रण करना होगा, तभी तुम पानी को देख सकोगे और समझ सकोगे कि पानी हाइड्रोजन तथा आक्सीजन नामक गैसों से उत्पन्न होता है। अद्वैत-ज्ञान की अनुभूति करने के लिये भी इसी प्रकार धर्म में विश्वास चाहिये, आग्रह चाहिये, अध्यवसाय चाहिये, आप्राण चेष्टा चाहिये, तभी यह सम्भव हो सकेगा। जब एक महीने की आदत छोड़ना कठिन है, तो फिर दस साल की आदत का तो कहना ही क्या! इधर हर व्यक्ति की पीठ पर सैकड़ों जन्मों का कर्मफल बँधा हुआ है। क्षण भर के लिये श्मशान-वैराग्य आया और कहने लगे – 'कहाँ, मैं तो सर्वत्र एकत्व नहीं देख पा रहा हूँ।' "

मैं – "स्वामीजी, यदि आपका कथन सत्य हो, तब तो fatalism (भाग्यवाद) आ जाता है। यदि अनेक जन्मों का कर्मफल एक जन्म में जानेवाला नहीं है, तो फिर इसके लिये इतना आग्रह और चेष्टा ही क्यों? जब सबकी मुक्ति होगी, उसी समय मेरी भी मुक्ति हो जायेगी।"

स्वामीजी – "ऐसी बात नहीं है। कर्मफल तो अवश्य ही भोग करना होगा, परन्तु कई कारणों से वे सारे कर्मफल खूब

अल्प समय में भी समाप्त किये जा सकते हैं। स्लाइड-शो के द्वारा पचास चित्र दस मिनट में भी दिखाये जा सकते हैं, या फिर उन्हें दिखाते हुए सारी रात भी बितायी जा सकती है। यह तो व्यक्ति के अपने आग्रह पर निर्भर करता है।''

सृष्टि-रहस्य के विषय में भी स्वामीजी की व्याख्या बड़ी सुन्दर थी। सभी सृष्ट वस्तुओं को (सुविधा के लिये) चेतन तथा अचेतन – इन दो वर्गों में बाँट लिया जाता है। मनुष्य सृष्ट वस्तुओं के चेतन विभाग का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। किसी-किसी धर्म के मतानुसार ईश्वर ने अपने ही समान रूप में सर्वश्रेष्ठ मानव-जाति का निर्माण किया है; कोई कहता है कि मनुष्य एक तरह का पूँछहीन बन्दर है; फिर कोई कहता है कि केवल मनुष्य में ही विचार की शक्ति है, क्योंकि उसके मस्तिष्क में जलीय अंश अधिक है। तो भी, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि मनुष्य एक प्राणी है और सृष्ट जगत् का एक अंश मात्र है। अब – सृष्ट पदार्थ क्या है? – यह समझने के लिये पाश्चात्य विद्वान संश्लेषण तथा विश्लेषण की पद्धति अपना कर – यह क्या है, वह क्या है – आदि अनुसन्धान करने लगे; और इधर हमारे पूर्वजगण भारतवर्ष की गर्म जलवायु तथा उर्वर भूमि में देहरक्षा के लिये अत्यल्प समय देकर, कौपीन पहने दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में बैठकर कमर कसकर इस प्रश्न पर विचार करने लगे – **कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं भवति –** 'ऐसी कौन-सी चीज है, जिसको जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है?' उनमें अनेक प्रकार के लोग थे। इसीलिये हमारे धर्म में – चार्वाक के दृश्य सत्य से लेकर शंकराचार्य के अद्वैत मत तक सब कुछ मिलता है। दोनों दल क्रमश: एक ही स्थान पर पहुँच रहे हैं और अब एक ही सुर में सुर मिलाकर बोलने लगे हैं। दोनों दल कह रहे हैं कि इस ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ एक ही अनिर्वचनीय अनादि अनन्त वस्तु की अभिव्यक्ति मात्र हैं। स्थान तथा काल (time and space) भी वही है। काल अर्थात् युग, कल्प, वर्ष, माह, दिन तथा क्षण आदि समय-ज्ञापक पदार्थ, जिसके बोध में सूर्य की गति ही हमारी प्रमुख सहायक है, विचार करके देखने पर वह काल क्या प्रतीत होता है? सूर्य अनादि नहीं है; ऐसा समय अवश्य था, जब सूर्य नहीं था, यह निश्चित है। फिर ऐसा समय भी आयेगा, जब सूर्य नहीं रहेगा, यह भी निश्चित है। तो फिर अखण्ड समय एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तु-विशेष के अतिरिक्त और क्या है? आकाश या अवकाश कहने पर हम पृथ्वी या सौर-जगत्-सम्बधी सीमाबद्ध स्थान-विशेष समझते हैं। परन्तु वह तो समग्र सृष्टि के एक अंश मात्र को छोड़ और क्या है? ऐसा अवकाश भी होना सम्भव है, जिसमें किसी भी सृष्ट वस्तु का अभाव हो। अत: अनन्त आकाश भी समय के समान ही एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तु-विशेष ही है। अब बताओ, सौर-जगत् तथा सृष्ट वस्तुएँ कहाँ से और कैसे आयीं? सामान्यत: हमें कर्ता के बिना क्रिया देखने को नहीं मिलता। अत: हम लोग सोचते हैं कि सृष्टि का अवश्य ही कोई कर्ता होगा; परन्तु यदि ऐसा हो, तो सृष्टिकर्ता को भी तो किसी सृष्टिकर्ता की जरूरत पड़ेगी और ऐसा हो नहीं सकता। अतएव आदि कारण, सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि अनिर्वचनीय अनन्त भाव या वस्तु-विशेष है। अनन्त का बहुत्व तो सम्भव ही नहीं है, इसलिये ये सारे अनन्त पदार्थ एक हैं; और वह एक ही उन सभी रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है।''

एक बार मैंने पूछा – ''स्वामीजी, मंत्र आदि में विश्वास – जैसा कि सामान्य लोगों में प्रचलित है, वह क्या सत्य है?''

उन्होंने उत्तर दिया – ''सत्य न होने का तो मैं कोई कारण नहीं देखता। कोई तुमसे करुण स्वर में, मधुर भाषा में कोई बात पूछे, तो तुम सन्तुष्ट होते हो; और कठोर तथा रुक्ष भाषा में कोई बात कहे, तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तो फिर प्रत्येक वस्तु के अधिष्ठातृ-देवता भी सुललित उत्तम श्लोक (जिसे मंत्र कहते हैं) सुनकर सन्तुष्ट क्यों नहीं होंगे?''

ये सारी बातें सुनकर मैंने कहा – ''स्वामीजी, मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ तो आप समझ ही पा रहे हैं, अब आप ही बता दीजिये कि मेरे लिये क्या कर्तव्य है?''

स्वामीजी बोले – ''चाहे जिस उपाय से भी हो, पहले मन को वश में लाने का प्रयास करो, उसके बाद सब अपने आप हो जायेगा। और ज्ञान – अद्वैत ज्ञान बड़ा ही कठिन है; यह जान रखो कि वही मनुष्य जीवन का प्रधान उद्देश्य या लक्ष्य है, परन्तु लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व काफी प्रयास तथा तैयारी की आवश्यकता है। साधुसंग तथा यथार्थ वैराग्य को छोड़कर उसकी अनुभूति का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

❑❑❑
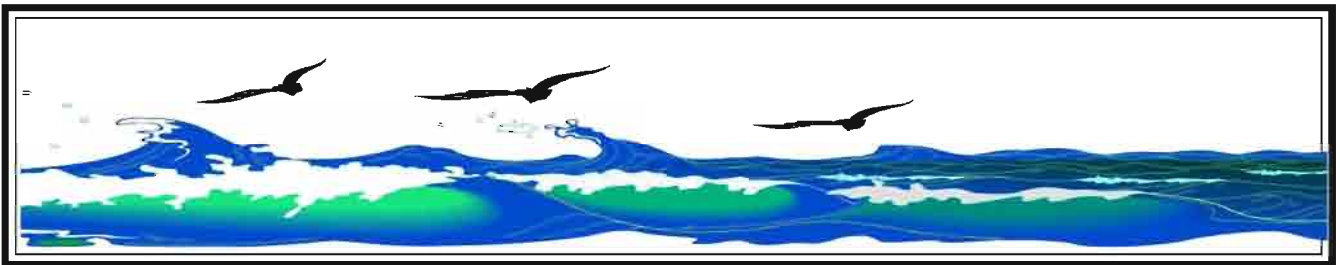
शिक्षक : क्रान्ति का अग्रदूत (१)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

(स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन आश्रम, बड़ोदरा, गुजरात के सचिव हैं। उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण व्याख्यान १७ दिसम्बर, २००३ को 'अहमदाबाद मैनेजमेन्ट एसोसियेशन' (AMA) में दिया था। वर्तमान परिवेश में शिक्षकों की महती भूमिका को देखते हुये इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर, छत्तीसगढ़ के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

प्रिय श्री जोशीजी, श्री सुनील शाहजी, शिक्षको, विद्यार्थियो, अभिभावको और यहाँ उपस्थित सभी महानुभावो !

प्रिय मित्रो!

मैं 'अहमदाबाद प्रबंधन संस्थान' में आकर प्रबुद्ध श्रोताओं के बीच कुछ विचार प्रकट करने का सुअवसर पाकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आज के व्याख्यान का विषय बहुत ही रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है – **'शिक्षक : क्रान्ति का अग्रदूत'**। अभी श्री जोशीजी ने विषय का परिचय कराते हुये हमें बताया कि कैसे हमारे महान राष्ट्रभक्तों और शिक्षाविदों ने राष्ट्र-निर्माण के लिये कार्य किया, कैसे शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया, जो राष्ट्र-निर्माण के लिये अनुकूल था, आवश्यक था। शिक्षा का वर्तमान परिदृश्य क्या है? राष्ट्र के निर्माण में शिक्षकों का क्या योगदान है? उन्हें क्यों 'क्रान्ति का अग्रदूत' कहा जाता है? इसी विषय पर हमें विचार करना है।

शिक्षकों के प्रकार

'शिक्षक' को अँग्रेजी भाषा में 'Teacher' कहते हैं और संस्कृत में 'गुरु' कहते हैं। गुरु शब्द दो अक्षरों से बना है – 'गु' और 'रु'। 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार, अज्ञान और 'रु' अर्थात् वह जो अन्धकार, अज्ञान को दूर कर देता है, नष्ट कर देता है। 'गुरु' के लिये शिक्षक की अपेक्षा पथ-प्रदर्शक शब्द अधिक उपयुक्त होगा। जो अज्ञान को दूर कर दे, वह पथ-प्रदर्शक है। जो शिष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाय, उसे पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। मुण्डक उपनिषद के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है – अपरा विद्या और परा विद्या। हम जो कुछ भी जानते हैं, वह अपरा विद्या है। जैसे – भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, इतिहास आदि का अध्ययन करना, वैसे ही शास्त्रों और वेदों का ज्ञान भी अपरा विद्या के अन्तर्गत ही आता है। इन्द्रियातीत सत्ता आत्मा का ज्ञान परा विद्या है। दुर्भाग्यवश हमारा सर्वाधिक ज्ञान अपराविद्या का ही है। इसका अर्थ है कि यद्यपि हमें सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान है, किन्तु यदि हमें अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं है, तो हम आत्मज्ञान से वंचित हैं। आत्मज्ञान अर्थात् परम सत्ता परमात्मा का ज्ञान, जो कि देश-काल-कारण के अतीत है, परे है, उसे परा विद्या कहते हैं।

प्राचीन काल में हमारे शिक्षा संस्थानों में जिन्हें हम 'गुरुकुल' कहते थे, ये दोनों विद्यायें (परा-अपरा, भौतिक और आध्यात्मिक) एक साथ शिष्य को प्रदान की जाती थीं। किन्तु आजकल हम देखते हैं कि हमारे आधुनिक शिक्षा संस्थानों में केवल अपरा विद्या ही प्रदान की जाती है, परा विद्या को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। आत्माभिव्यक्ति (Self-Actualistion) एवं आत्मोन्नयन (Self-Transcendence) की पूर्णत: उपेक्षा की गई है। यहाँ तक कि 'गुरु' शब्द का वास्तविक अर्थ भी भुला दिया गया है और आजकल बड़े ही हल्के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। आजकल हम लोग इस शब्द का प्रयोग मैनेजमेंट गुरु, कराटे-गुरु, संगीत गुरु आदि के रूप में करते हैं जो कि स्पष्ट रूप से साधारण अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। जबकि गुरु शब्द का अर्थ है – वह व्यक्ति जो अन्धकार का, अज्ञान का नाश कर दे, वह व्यक्ति जो दिव्य ज्ञान-रूपी प्रकाश के द्वारा शिष्य को आत्मज्ञान प्रदान करे।

श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, केवल 'सच्चिदानन्द' परमात्मा ही गुरु हो सकते हैं। गुरु कैसे ज्ञान प्रदान करते हैं? गुरु दो प्रकार से ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रथमत: वे सूक्ष्म रूप में व्यक्ति को अन्त:प्रेरणा प्रदान करते हैं। द्वितीयत: स्थूल रूप में कभी-कभी भगवान स्वयं इस धरा पर अवतार लेते हैं। कुछ विशिष्ट, प्रमुख अवतार हैं – श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशंकराचार्य, ईसा मसीह, बुद्ध, महावीर, आदि और सद्य: अभिनव अवतार श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने दानवी शक्तियों जैसे भौतिकतावाद, उपभोक्तावाद और रूढ़ीवाद द्वारा निर्मित आधुनिक विश्व की समस्याओं का समाधान करने के लिये अवतार लिया। उनके साथ श्रीमाँ सारदा देवी आयीं और स्वामी विवेकानन्द जी आये।

ये अवतार मानवता के, संसार के महानतम गुरु हैं। दूसरी श्रेणी के गुरुओं में हम पैगम्बर और आचार्यों को पाते हैं, जैसे गुरुनानक, पैगम्बर मोहम्मद आदि। तीसरी-श्रेणी में हम संतों को पाते हैं, जैसे कबीर, मीराबाई, नरसी महेता आदि। उसके बाद अनुभूतिसम्पन्न आत्मज्ञानी पुरुष हैं, जिन्होंने साधना की और ईश्वर-दर्शन किया, परमात्मा का साक्षात्कार किया। वे लोग गुरु बने और उन लोगों ने आध्यात्मिक ज्ञान

प्रदान किया। उसके बाद शिक्षक हैं, जो भौतिक जगत से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान, लौकिक ज्ञान प्रदान करने में संलग्न हैं। अधिकाशत: जब हम 'शिक्षक' से सम्बोधन करते हैं, तो इसका अर्थ होता है – वह व्यक्ति जो स्कूल या अन्य शिक्षा-संस्थानों में अध्यापन-कार्य में संलग्न है। उपरोक्त आध्यात्मिक गुरुओं का उल्लेख समाज में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में है। वे सम्पूर्ण विश्व को परिवर्तित कर देते हैं। लेकिन साधारण शिक्षकों का क्या योगदान है? क्या वे भी समाज के पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं? क्या वे भी सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत बन सकते हैं? यही हमारा विवेच्य विषय है।

थोड़ी देर के लिये मैं अपनी चर्चा को केवल उन शिक्षकों तक ही सीमित रखता हूँ, जो लोग विद्यालयों, कॉलेजों, आदि में पढ़ाते हैं। क्या वे लोग भी समाज के पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं? क्या वे लोग भी क्रान्ति के अग्रदूत बन सकते हैं? हमें किस क्रान्ति की, किस परिवर्तन की आवश्यकता है? क्या हमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता है?

वर्तमान परिदृश्य : आध्यात्मिक तत्त्व के संयोजन की परम आवश्यकता

सारे संसार में मानसिक अशान्ति परिव्याप्त है। UNESCO इस विषय में सर्वाधिक चिन्तित है, उद्विग्न है। क्योंकि उन लोगों ने 'बनने' के बदले 'करने' की शिक्षा दी है, इसलिये बहुत-सी नयी पीढ़ी नशे की शिकार हो रही है, आत्महत्या कर रही है और एड्स जैसी हानिकारक संक्रामक बीमारियों की चपेट में आ रही है। अमेरिका के डेरेक हम्फरी (Derec Humphrey) अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक 'The Final Exit' में यह मार्ग-दर्शन देते हैं कि कैसे आत्महत्या करें। कुछ वर्ष पहले जापान की भी एक लोकप्रिय पुस्तक थी जिसका नाम था – "The Complete Manual On Committing Suicide"। इस पुस्तक की १ वर्ष में साढ़े तीन लाख प्रतियाँ बिकी थीं और बहुत से लोगों ने इस पुस्तक को अपने हाथों में लेकर आत्महत्या की। फ्रांस की एक लोकप्रिय पुस्तक थी – "Suicide-User's Manual"। हमारे देश में भी वर्तमान में बहुत-सी समस्यायें हैं, जैसे बेरोजगारी, गरीबी आदि। फिर भी हमारे देश में आत्महत्या करनेवालों का औसत दर तथाकथित विकसित देशों की तुलना में कम है। अब तक हमलोग सोचते थे कि सुख सम्पत्ति का पूर्णत: समानुपाती है। अधिक सम्पत्ति अर्थात् अधिक सुख। किन्तु सांख्यकीय आँकड़ा यह स्पष्ट करता है कि सच्चाई इसके ठीक विपरीत ही है। अमेरिका, जापान, स्वीडन, आदि विकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है, किन्तु वे भी आत्महत्या करने में सबसे आगे हैं। इन देशों में अधिक लोग मानसिक रोगी भी हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें अधिक धन कमाना बन्द कर देना चाहिये, बल्कि मैं सोचता हूँ कि भारत में आर्थिक विकास को सबसे पहले प्राथमिकता देनी चाहिये। लेकिन हम याद रखें कि केवल धन ही हमारी सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। कुछ और सांख्यकीय आँकड़े प्रस्तुत हैं, जो सम्पूर्ण विश्व की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता करेंगे।

* अमेरिका, जापान और स्वीडन में यूनेस्को के अनुसार ५४% मृत्यु आत्महत्या से होती है।

* जापान के स्वास्थ्य मंत्रालय के अनुसार ४२ वर्ष की आयु और इससे अधिक के ४४% जापानी मानसिक विक्षिप्तता के शिकार हैं।

* U.K. के एक मनोचिकित्सक डॉ. आर. डी लैंग के अनुसार इग्लैंड में औसतन युवक-युवतियों के उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश करने की अपेक्षा मानसिक अस्पताल में प्रवेश की १० गुना सम्भावना है।

ऐसा वर्तमान परिदृश्य है। इसलिये हमें यह सोचना आवश्यक है कि परिवर्तन लाने के लिये शिक्षक और शिक्षा की अहम् भूमिका क्या हो सकती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से मुक्त भिन्न प्रकार की शिक्षा को अपनाना होगा, जिसमें अध्यात्म का भी समावेश होगा। एक उल्लेखनीय परिवर्तन आवश्यक है। मूल्यनिष्ठ या आदर्शवादी शिक्षा को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिये। स्वामी विवेकानन्द जी ने चेतावनी दी है कि यदि आध्यात्मिक शिक्षा का अनुसरण नहीं किया गया, तो तीन पीढ़ियों में ही हमारी जाति का विनाश हो जायेगा। इसलिये आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करने की अत्यन्त आवश्यकता है। नयी सभ्यता की नींव आध्यात्मिक मूल्य पर आधारित एवं विकसित होनी चाहिये, अन्यथा कोलम्बिया स्कूल जैसी घटनायें बढ़ेगीं। यदि हम मानसिक शान्ति और विश्वशान्ति चाहते हैं, तो हमें आध्यात्मिकता को अपनाना होगा।

आध्यात्मिकता : भारत का विश्व को अवदान

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि विश्व को आध्यात्मिक ज्ञान देना भारत का विशेष अवदान है। प्रत्येक राष्ट्र का एक विशेष अवदान है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द जी ने जो कहा, वह सार्थक है – ''भारत सम्पूर्ण विश्व पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति से विजय प्राप्त करेगा।'' किसी ने स्वामीजी से पूछा कि एक संन्यासी होकर उन्हें राष्ट्रीयता से ऊपर होना चाहिये। वे क्यों भारत और राष्ट्रभक्ति के बारे में इतनी बातें करते हैं? स्वामीजी ने इसका प्रत्युत्तर देते हुये कहा कि उनके लिये सभी देश समान हैं, लेकिन विश्व को भौतिकवादी संस्कृति के ग्रास से बचाना है। जब तक भारत सुरक्षित नहीं होगा, तब तक विश्व को नहीं बचाया जा सकता। क्योंकि

महान आध्यात्मिक संस्कृति के प्रसार में भारत की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। हमें महान भारतीय संस्कृति विरासत में मिली है, जिसे हमें सम्पूर्ण विश्व को प्रदान करना है, जिसकी सारा जगत प्रतीक्षा कर रहा है। वास्तव में स्वामीजी ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सच हुई। वह कोई भविष्यवक्ता ज्योतिषी नहीं थे, बल्कि भविष्यद्रष्टा थे। सन् १८९७ में उन्होंने कहा कि भारत ५० वर्षों में विशेष परिस्थितियों में स्वतन्त्र हो जायेगा। उस समय तक गाँधीजी दक्षिण अफ्रिका से वापस भारत में नहीं आये थे और कोई भी 'असहयोग आन्दोलन' के विषय में नहीं सोचता था। लेकिन सचमुच सन् १९४७ में यह हुआ और ठीक ५० वर्ष बाद हमलोगों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। उन्होंने और भी बहुत-सी भविष्यवाणियाँ की थीं, जो बाद में सत्य हुईं। सन् १८९३ में अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक प्रोफेसर जॉन हेनरी राइट के यहाँ उन्होंने कहा था, अँग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद सबसे अधिक खतरा चीन के द्वारा भारत पर आक्रमण करने का है। उस समय कोई भी व्यक्ति यह नहीं सोच सकता था कि अँग्रेज कभी भारत को छोड़कर जा सकते हैं और उसके बाद चीन के द्वारा भारत पर आक्रमण की तो कोई कल्पना ही नहीं कर सकता था। लेकिन यह कार्य सन् १९६२ में हुआ, चीन ने भारत पर आक्रमण किया। स्वामी विवेकानन्द जी ने यह भी भविष्यवाणी की थी कि प्रथम श्रमिक मजदूर-आन्दोलन रूस या चीन से आरम्भ होगा। कार्ल मार्क्स ने स्वयं सोचा था कि पहला श्रमिक-आन्दोलन जर्मनी से होगा, क्योंकि वहाँ संगठित मजूदर हैं। रूस में संगठित मजदूर नहीं हैं। तथापि स्वामीजी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

इसलिये स्वामीजी ने जो कुछ भी कहा है, वह सत्य हुआ है। लेकिन एक भविष्यवाणी अभी भी पूर्ण होना शेष है। सन् १८९७ में मद्रास (चेन्नई) के अपने व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा था कि भारत अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त करेगा। यह भविष्यवाणी पूर्ण होना अभी शेष है। यह कार्य भी धीरे-धीरे हो रहा है। सारा संसार ध्यान-योग आदि के द्वारा भारतीय आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो रहा है। ९ अगस्त, २००३ अंक की 'टाईम' पत्रिका बताती है कि अमेरिकी जी-जान से ध्यान की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उसमें यह भी उल्लेखित है कि मानसिक शान्ति हेतु लगभग एक करोड़ अमेरिकी प्रतिदिन ध्यान करते हैं। वहाँ के समाचारपत्रों की यह भी सूचना है कि अमेरिकी लोग योग में भी अधिक उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। दूसरी रिपोर्ट के अनुसार १२२ में से ९२ अमेरिका के मेडिकल स्कूल योग और ध्यान के साथ अल्टरनेटिभ मेडिसीन की कक्षाओं का नियमित संचालन कर रहे हैं। इस प्रकार भारत की आध्यात्मिकता, भारतीय संस्कृति दूसरे देशों के द्वारा ग्रहण की जा रही है। अब यदि भारत को 'विश्वगुरु' का दायित्व ग्रहण करना है, तो उस आध्यात्मिकता को प्रदान करने के लिये एक बाधा सामने आती है और वह है हमारी 'विकासशील राष्ट्र' की अवस्था। जब तक हम एक विकसित राष्ट्र नहीं हो जाते, तब तक हम कैसे उनके 'गुरु' हो सकते हैं? इसीलिये राष्ट्र-निर्माण की परम आवश्यकता है।

चरित्र-निर्माण के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण होगा

चरित्र-निर्माण कैसे किया जा सकता है? डॉ. राधाकृष्णन् जी ने बड़े ही सुन्दर एवं स्पष्ट शब्दों में कहा है – "आप केवल ईंटों से राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। आपको युवकों के मन-मष्तिष्क को सुदृढ़ करना होगा। केवल तभी राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।" स्वामी विवकान्द जी ने भी कहा है कि राष्ट्र-निर्माण या राष्ट का पुनर्निर्माण अवश्य ही नागरिकों के चरित्र-निर्माण से आरम्भ होना चाहिये। हम संसद भवन के किसी भी कानून से राष्ट्रीय परिदृश्य को नहीं बदल सकते। हमारे संसद भवन में भले ही नये अधिनियम बनते हैं, लेकिन केवल उससे हमारे देश का विकास नहीं होगा। जिस दिन नया कानून पारित होता है, उसी दिन उसका विरोध एवं उसे चुनौती देने के लिये वैध या अवैध रूप से मार्ग ढूँढ़ लिया जाता है।

अत: राष्ट्र का पुनर्निर्माण तब तक नहीं हो सकता, जब तक नागरिकों का चरित्र-निर्माण नहीं हो जाता और भ्रष्टाचार समाप्त नहीं हो जाता। एक कहानी है। एक नटखट लड़का था। उसके पिताजी जब कार्य कर रहे थे, तब उसे व्यस्त रखने के लिये उन्होंने उसे भारत का कई टुकड़ों में फटा एक मानचित्र दिया और उस मानचित्र को ठीक करके लाने को कहा। पिताजी ने सोचा कि लड़के को भूगोल की कम जानकारी है, अत: इसे ठीक करने में उसे दिन भर लग जायेगा और इस प्रकार उनके कार्य में बाधा नहीं होगी। लेकिन पिताजी को आश्चर्यचकित करते हुये कुछ ही मिनटों में लड़का पूरे मानचित्र को सुव्यवस्थित ठीक-ठीक जगह पर चिपकाकर उनके सामने उपस्थित हो गया। पिताजी के पूछने पर उसने बताया कि जब वह मानचित्र को एक साथ जोड़ने में संघर्ष कर रहा था, तभी अचानक उसने मानचित्र के पीछे एक आदमी का चित्र देखा। तब उस मनुष्य के चित्र को पूर्ण करने के लिये उसने सभी टुकड़ो को जोड़ दिया, जैसे ही उस आदमी का चित्र पूर्ण हुआ, उसके साथ-ही-साथ भारत का मानचित्र भी पूर्ण निर्मित हो गया। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने भी कहा है कि सबसे पहले मनुष्य को पूर्ण और महान बनाओ, तब राष्ट्र स्वयं ही पूर्ण और महान बन जायेगा। इसलिये राष्ट्र का निर्माण अवश्य ही नागरिकों के चरित्र-निर्माण से आरम्भ होना चाहिये, अन्यथा देश संगठित नहीं

होगा, देश में एकता नहीं होगी। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द जी ने बारम्बार मनुष्य-निर्माण और चरित्र-निर्माण के शिक्षा की बात कही है, जिसकी हमें नितान्त आवश्यकता है। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद डॉ. कोठारी आयोग, डॉ. राधाकृष्णन् आयोग और श्री प्रकाश आयोग आदि के अनेकों रिपोर्टों, प्रपत्रों में मूल्यनिष्ठ शिक्षा, आदर्श शिक्षा की आवश्यकता की संस्तुति करने के बाद भी इसे कार्यान्वित नहीं किया गया। कभी-कभी मैं हँसी में कहा करता हूँ कि हमारी शिक्षा मनुष्य-निर्माण की नहीं है, बल्कि दानव-निर्माण की है। भर्तृहरि जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नीतिशतकम्' में कहते हैं कि समाज में चार प्रकार के लोग हैं। प्रथम श्रेणी में सत्पुरुष हैं, जो लोग दूसरों की नि:स्वार्थ भाव से सेवा करते हैं। द्वितीय श्रेणी में, साधारण व्यक्ति हैं, जो सर्वप्रथम अपना कल्याण करते हैं, फिर दूसरे का हित करते हैं। तृतीय श्रेणी में, राक्षस हैं, ये मनुष्य की तरह दिखते हैं, किन्तु उनमें दानवी दुर्गुण हैं। वे जो कुछ भी करते हैं, केवल अपने स्वार्थ के लिये ही करते हैं। वे दूसरे की क्षति का ध्यान नहीं रखते। आजकल अपने समाज में ये भारी संख्या में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, जैसे किसी बाँध, पुल या किसी मकान के निर्माण के समय इंजीनीयर रिश्वत लेकर ठेकेदार को सीमेन्ट में अधिक मात्रा में बालू मिलाने की स्वीकृति दे देता है। इससे इंजीनियर की स्वार्थपूर्ति तो हो जाती है। उसे रुपये मिल जाते हैं। किन्तु जब बरसात आती है, तब बाँध टूट जाता है, पुल ढह जाता है, मकान टूटकर गिर जाता है और इसके कारण सैकड़ों लोग मर जाते हैं, हजारों घायल हो जाते हैं, हजारों लोग गृहविहीन हो जाते हैं। लेकिन इंजीनियर प्रसन्न है, क्योंकि उसके पास अच्छा बंगला है, आलिशान भवन है। उसकी स्वार्थपरता ने अनेकों लोगों के प्राण ले लिये और राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति नष्ट कर दी। ठीक वैसे ही, कुछ चिकित्सक भी हैं, जिन्हें केवल रुपये कमाने के सिवाय रोगियों को स्वस्थ करने में बिल्कुल ही रुचि नहीं है। उसके बाद चतुर्थ श्रेणी के लोग आते हैं। उनके बारे में भर्तृहरि जी कहते हैं कि वे ऐसे लोग है, जिनका नामकरण नहीं किया जा सकता। वे राक्षसों से भी खराब हैं। वे ऐसे हैं कि उनका अपना कुछ भी लाभ न होने पर भी, वे दूसरों की हानि पहुँचाते हैं। अब हम एक और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को भी इस सूची में जोड़ सकते हैं, जो पाँचवीं श्रेणी में आयेंगे। वे ऐसे लोग हैं, जो अपनी क्षति करके भी दूसरों की क्षति करने में प्रसन्न होते हैं। उदाहरणार्थ आजकल के आतंकवादी हैं। वर्तमान में हमारे पास तीसरी, चौथी और पाँचवीं श्रेणी के लोगों की अधिकता है। दूसरी श्रेणी के तो वास्तव में ही कम हैं और प्रथम श्रेणी के तो विरले ही हैं। इसलिये स्वामीजी की मनुष्य-निर्माण की शिक्षा आज इतनी प्रासंगिक है।

सच्चरित्रता का अभाव : एक राष्ट्रीय संकट

आजकल एक राष्ट्रीय संकट है – चरित्र का अभाव। १६ अप्रैल को मैं राष्ट्रपति भवन में हमारे सम्माननीय महामहिम भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी के साथ था। मैंने उनसे कहा कि यदि वे विश्व बैंक का सारा धन भी लाकर हमारे देश को दे दें, तो भी भ्रष्टाचार के कारण यहाँ की गरीबी दूर होने वाली नहीं है। वे इससे सहमत हुये और उन्होंने मुझसे पूछा कि इसका क्या समाधान है? मैंने कहा कि इसका एकमात्र समाधान है, स्वामी विवेकानन्द जी के मनुष्य-निर्माण और चरित्र-निर्माण की शिक्षा को विद्यार्थियों को प्रदान करने के सन्देश को कार्यान्वित करना। मैंने उन्हें विद्यार्थियों को प्रेरित करने के अदम्य उत्साह के लिये धन्यवाद दिया और रामकृष्ण मिशन के द्वारा संचालित आदर्श शिक्षा-योजना से उन्हें अवगत कराया। यह सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने कहा – ''स्वामीजी ! आइये, इस योजना में हम एक साथ मिलकर कार्य करें !''

चरित्र का विकास कैसे करें?

एक कहावत है – विचार का बीजारोपण कर क्रिया की फसल काटो, क्रिया का बीज बो कर आदत की फसल काटो और आदत का बीज बो कर चरित्र की फसल काटो। स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार बार-बार किये गये कर्मों की आदतों के समूह को ही 'चरित्र' कहते हैं। यह इस जीवन में प्राप्त संस्कारों या पूर्व-जन्मों के संस्कारों द्वारा ही होता है। किसी व्यक्ति के संस्कारों के विकास में चार चीजों की प्रमुख भूमिका होती है। पहला, वे संस्कार जिसे व्यक्ति पूर्वजन्मों से वंशानुगत प्राप्त किया है। दूसरा, वे संस्कार जो माता-पिता और उनके प्रशिक्षण से प्राप्त हुये हैं। तीसरा, वे संस्कार जो समाज और उसके आस-पास के वातावरण से मिलता है। चौथा और सबसे महत्वपूर्ण संस्कार वह है, जो हमें अपने शिक्षकों से मिलता है। इसीलिये शिक्षक को 'समाज का पथ-प्रदर्शक', 'क्रान्ति का अग्रदूत' कहा जाता है। राष्ट्र में परिवर्तन नागरिकों के चरित्र-निर्माण के द्वारा ही लाया जा सकता है और इस चरित्र-निर्माण के लिये सुदृढ़ नींव की, मजबूत आधारशिला की आवश्यकता है। ठीक वैसे ही जैसे किसी सुदृढ़ भवन के निर्माण के लिये मजबूत नींव की आवश्यकता होती है। बच्चों के चरित्र-निर्माण की नींव छोटी अवस्था में ही रखनी होगी। छात्र-अवस्था में चरित्र-निर्माण करना बहुत सरल है। इस प्रकार व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करनेवाला सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि शिक्षक ही है।

❖ (क्रमशः) ❖

वेदों में नेतृत्व की धारणा

डॉ० विनोद चौधरी

नेता कैसा हो? उसका आचरण और आदर्श क्या हो? उसके चयन का मानक क्या हो? ये शाश्वत प्रश्न हैं। मानव समाज में ऋग्वैदिक काल से नेता और नीत का सम्बन्ध चला आ रहा है। नेतृत्व एक व्यक्ति और जनसमूह के बीच ऐसा सम्बन्ध है, जिसमें जन-समुदाय एक सामान्य उद्देश्य को लेकर चलता है और उस व्यक्ति की सलाह और आदेश के अनुसार आचरण करता है। देशकाल और परिस्थिति के अनुसार नेताओं में विभिन्न गुणों को अनिवार्य माना गया है। प्रसिद्ध समाजवादी विचारक डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा था वही व्यक्ति समाज को सही दिशा दे सकता है, जिसमें भूतकाल की अनुभूति हो, वर्तमान का ज्ञान हो और भविष्य का सपना हो। किसी भी युग वा काल में नेता या शासक वर्ग का कार्य है – आदर्श प्रस्तुत करना। वैदिक ऋषियों ने नेता, शासक, राजा के रूप में उनके लिये निश्चित मानक रखे – उनके लिये सीमा एवं मर्यादा का निर्धारण किया। उन ऋषियों की कसौटी पर आज के नेताओं को परखें, तो स्वयमेव विदित होगा कि ऋषि-चिन्तन आज भी प्रासंगिक, अनुकरणीय और मर्यादा की रेखा खींचने वाला है।

नेता वही है, जो जनता की इच्छा और अनुमोदन से उसी के हितार्थ उसका नियंत्रण तथा मार्गदर्शन करने में समर्थ है। सच्चे नेता की पहचान यह है कि लोग समझ-बूझकर खुशी से और अपने हित में उसके पीछे चलना मंजूर करते हैं। विचारकों ने नेताओं के कुछ सामान्य गुणों को अनिवार्य माना है। वे निम्नलिखित हैं – (१) साहस अथवा अभिक्रम (२) सदाचार और संयम (३) जनता की आकांक्षाओं और क्षमता का सही अनुमान (४) आत्मविश्वास (५) वक्तृत्व-शक्ति (६) रचनात्मक बुद्धि और समझौतों के लिये तैयारी।

वैदिक चिन्तन में नेता – धर्म की रक्षा तथा स्थापना के लिये प्रयत्नशील रहता है, वह नियमों का निर्माता नहीं, अपितु धारणकर्ता है। दैवी नियमों के साथ-साथ वह राष्ट्र और प्रजा का भी धारण करने वाला है। सत्य और न्याय की मूर्ति है। लोक में राजा या शासक यमराज के तुल्य माना गया है। वह प्रजा-पालन में प्रजापति के समान तथा ऐश्वर्य में इन्द्र के समान होगा। ऋग्वेद में नेता को सूर्य के समान प्रकाशक और सर्वोपरि कहा गया है, जो शुभ कर्मों का प्रतीक है। वह सत्य और ऋत का प्रचारक संविधान और नियमों का रक्षक है। **अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽयम्।** (ऋग्वेद ८/४४/१६)। जो सूर्य के समान तेजस्वी, राज्य को प्रकाशित करने वाला, अन्धकार को पार करने वाला, सबको देखने योग्य हो और न्याय तथा विनय से राज्य को प्रकाशित करे, वही राजा या नेता होने योग्य है। **तरणि विश्व -दर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमाभासि रोचनम्।** (यजुर्वेद ३३/३६)। नर (नेता लोग) संसार के जीवन के लिये प्रेम के आँसू बहाते हैं। हिंसारहित व्यवहार के साथ विविध प्रकार से ले चलते हैं और लम्बी प्रबन्ध-क्रिया के साथ प्रकाशमान होते हैं – **जीवं रुदन्ति विनयन्त्यध्वरं दीर्घामन प्रसितिं दीध्युर्नरः।**

शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये नैतिक गुण ब्रह्मचर्य, संयम और योग की आवश्यकता है, इसीलिये अथर्ववेद में कहा गया है – **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।** (अथर्ववेद ११/५/१७)

राजा या शासक को चाहिये कि वह अपने सम्पूर्ण बल तथा ज्ञान से निरन्तर सज्जनों का रक्षण और दुष्टों को दण्ड देकर सत्य तथा न्याय की उन्नति करे। **अधा हवग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथोर्ऋतस्य बृहतो बभुथ।** (ऋग्वेद ४/१०/१२) **जनाय केतु यज्ञं दधात** (ऋग्वेद ७/३४/६), – जनता के कल्याण के लिये कार्य करें। **सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः अदभ्यस्य मन्मभिः** (ऋ. ८/७/१५) – अदभ्य शासक ही जनता का कल्याण कर सकता है। जो राग द्वेषरहित गुणग्राही जन होते हैं, दूसरों को भी अपने सदृश करके दाता हुये लक्ष्मीवान होते हैं, वही नेता होने के योग्य हैं – **स बोधि सूरर्मघवा वसुपते वसुदावन् युयोध्य स्मद्द्वेषांसि** (ऋ. २/६/४) शासक को चाहिये कि न्याय से अन्याय को अलग कर धर्म में प्रवृत्त तथा शरण में आये जनों को अच्छे प्रकार से पालकर सब ओर से कृत्यकृत्य हो। **मही वामूतिरश्विना मयोमूरूत स्रामं धिष्ण्या संरिणीयः अथा युवमिदह्वयत् पुरन्धिरागच्छतंसी।** (ऋ. १/११७/१९)

वैदिक चिन्तन में विद्वान् को पथ-प्रदर्शक माना गया है। प्राचीन समाज में अशिक्षितों अथवा अल्प-शिक्षितों को राजनीति से पृथक् रखा गया है। आचरण, सदाचार, देशभक्ति ही नेता के मानक तत्व थे। समिति राष्ट्रवादी और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को राजपद के लिये चुनती थी।

ध्रवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वदिशः संमन्सः सध्रचीर्ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह॥
(अथर्ववेद ६/८८/३)

नेता का भ्रष्ट आचरण वैदिक चिन्तकों स्वीकार्य नहीं है।

आ त्वाहर्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठा विचालयत् विश्वस्त्वा सर्वा वांछन्तु मा त्वद्रष्टामधिभ्रशत् (अथर्व. ६/८७/१) – हे राजन्! तुझको लाकर मैंने स्वीकार किया है। सभा के मध्य तू

वर्तमान हुआ है। तू निश्चित बुद्धि और निश्चित स्वभाववाला होकर स्थिर हो। सब प्रजायें तेरी कामना करें, राज्य तुझसे कभी भ्रष्ट न होवे।

शतपथ ब्राह्मण (५/२/१/२५) के अनुसार राज्याभिषेक के समय राजा से कहा जाता था – **इयं ते राट् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरूपः** – यह राज्य तुम्हें कृषि के लिये क्षेम के लिये, समृद्धि के लिये और पुष्टि के लिये सौपा गया है। तुम इसके अचल एवं दृढ़ संचालक, नियामक धारणकर्ता हो।

ऋगवेद में कहा गया है – **अपहत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतायतिम्। आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देव्याय यत श्लोकमद्रयः।।** (१०/७६/४) – हे राजन्, राक्षसों का हनन करो, व्यवस्था भंग करने वालों को जीतो और वश में करो। दुर्भाग्य को दरिद्रता को अज्ञानता को विरोध को दूर करो। हमारे लिये सब वीरों से युक्त धन को प्राप्त कराओ, देवताओं के योग्य अर्थात् पवित्र तथा सम्पन्न ज्ञान तथा यश को प्रजा में भरो।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार – **तदेत्क्षत्रस्य क्षत्रय-द्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति।** (१/४/१४) – राजा के लिये धर्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य था।

शक्ति अनियंत्रित और अमर्यादित अवश्य थी, किन्तु वास्तव में उसका शासन पूर्णतया समाज द्वारा निर्धारित नियमों एवं आदर्शों के अनुरूप होने के कारण पर्याप्त रूप से मर्यादित और लोकमतापेक्षी मान्यताओं को नहीं तोड़ सकता था। संसार के सर्वोच्च राजा वरुण को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुति-स्मृतियों में जिस धर्म का उल्लेख हुआ है, उसका मैं पूरा पालन करूँगा और कभी मानामनी नहीं करूँगा। सामाजिक नियम राजा की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण थे। साधारणयता असुर अर्थात् असभ्य एवं अशिक्षित लोग अर्थात् सभ्य तथा विद्वानों से बलिष्ठ होते हैं। समाज के इन अवांछनीय तत्त्वों से त्राण पाना कठिन होता है। लोक में शान्तिभंग करनेवाले इन तत्त्वों को असुर मानना अधिक उपयुक्त है, जो शासक देवत्व-विरोधी इन असुरों का दमन करने में समर्थ हैं, वहीं रक्षित होकर सुखी रह सकता है। ऐसा उत्तमोत्तम शासक ही कह सकता है –

न स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः
नाना हिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणीकृतः।।
(छान्दोग्य उपनिषत् ५/११/५)

प्रजा अपने राजा के गुणों का अनुकरण करती है।

स्वामिनं चोपमां कृत्वा प्रजास्तद्वृत्तकाङ्क्षया।
स्वयं विनय सम्पन्ना भवन्तीह शुभेक्षणे।।
(महाभारत, अनु. अ. १४५)

जो प्रजा का विरोधी राजा वा राजा का विरोधी प्रजा है, ये दोनों ही सुखोन्नति को नहीं कर सकते हैं और जो राजा अपने प्रयोजन और स्वार्थ के लिये पक्षपात से प्रजा को पीड़ा देकर धन इकट्टा करता है और जो प्रजा चोरी या कपट आदि से राज-धन का नाश करता है, दोनों ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अतएव दोनों परस्पर विरोध छोड़कर सहकारी होकर सदा अपना व्यवहार बरते – **अवत्मना भरते केतवेदा अवत्मना फेनमुदन्। क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्याता प्रवणे शिफाया।** (ऋग्वेद १/१०४/३)

वैदिक चिन्तकों द्वारा शासक के लिये मूलतः बाइस गुणों की कल्पना की गई है। (१) सत्यप्रियता, (२) उद्योगशीलता, (३) महत्त्वाकांक्षा के साथ कार्य प्रारम्भ करने और उसको पूरा करने का उत्साह, (४) वस्तुस्थिति का उत्तम ज्ञान, (५) धैर्य, (६) साहस, (७) तेजस्विता, (८) धर्मनिष्ठा, (९) इन्द्रियों का निग्रह, (१०) उत्तम ग्रन्थों को पढ़ना तथा व्याख्यान सुनना, (११) शान्त स्वभाव और अचांचल्य, (१२) परोपकारिता, (१३) ईश्वरभक्ति, (१४) किये हुये कार्यों में दक्षता, (१५) नियमानुसार चलने का अभ्यास, (१६) खूब धन संचय तथा सम्यक् वितरण, (१७) सर्व सहायक पदार्थों का विपुल संग्रह, (१८) आपस में एक दुसरे का सत्कार करना, (१९) एकता में रहना, (२०) दुःख एवं आपत्तियों में पड़े लोगों की सहायता करना, (२१) यज्ञ अर्थात् स्वार्थ-त्याग और (२२) मातृभूमि पर अटल निष्ठा।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने राजा के कर्तव्यों को सूचीबद्ध किया है (याज्ञवल्क्य-स्मृति, आचाराध्याय, ३०९-३११) –

सत्यं वृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
स नो भूतस्य भव्यस्य
पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

राजा को महान् उत्साही, धन देनेवाला, कृतज्ञ, विद्वान्, सेवक, विनीत, सत्य-सम्पन्न, सम्पत्ति तथा विपत्ति में एक-सा आचरण करने वाला, कुलीन सत्यवादी, पवित्र, आलस्य रहित, स्मरण रखनेवाला सद्गुणी, दूसरों का दोष न करने वाला, धार्मिक, अव्यसनी, बुद्धिमान, वीर, रहस्यविद्, प्रवेशद्वारों को गुप्त रखने वाला, आत्मविद्या, दण्डनीति विद्या और कृषि आदि में प्रवीण होना चाहिये। ये छह गुण राजनेताओं के चयन की कसौटी हैं – (१) व्याख्यान-शक्ति (२) प्रगल्भता (बुद्धिमत्ता व प्रतिभा) (३) तर्क-कुशलता (४) भूतकाल की स्मृति (५) भविष्य पर दृष्टि (६) सदाचार एवं नीति-निपुणता। विद्वान् नेता से ही इन गुणों की अपेक्षा की जाती है।

वैदिक चिन्तकों के निष्कर्ष के आधार पर लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी राजनेताओं की जाँच-परख होनी चाहिये। इन गुणों से युक्त नेता ही लोकतंत्र को नयी दिशा दे सकेंगे। ❑

रामकृष्ण मठ
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद २११००३ (उ.प्र.)

Phone : 0532-2413369 Fax : 2415235,
E-mail : rkmathald@dataone.in

अपील

प्रिय बन्धु,

आपको सूचित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि रामकृष्ण मठ, प्रयाग (इलाहबाद) सन् २०१० में अपने गौरवशाली १०० वर्ष पूरे करने जा रहा है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्यतम शिष्य श्रीमत् स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज ने इस मठ की स्थापना सन् १९१० में की थी। स्वामी विज्ञानानन्द दिव्य आध्यात्मिक भावापन्न ब्रह्मज्ञ महापुरुष थे, जिन्हें स्वामी ब्रह्मानन्दजी – जो कि श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य एवं रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के पहले अध्यक्ष थे – "गुप्त ब्रह्मज्ञानी" कहा करते थे। उन्होंने इस मठ में सुदीर्घ २८ वर्षों तक निवास कर अपनी कठोर आध्यात्मिक साधना के द्वारा यहाँ के वातावरण को आध्यात्मिक भावराज्य से परिपूर्ण कर दिया था, जिसका अनुभव मठ में आने वाले भक्तगण आज भी कर पाते हैं।

इस आध्यात्मिक भाव को भक्तों के व्यक्तिगत जीवन में उतारने के लिए अनन्त भावस्वरूप युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव के एक सार्वजनीन मन्दिर की आवश्यकता अनेक वर्षों से अनुभव की जा रही थी।

अत: यह निर्णय लिया गया है कि मठ की स्थापना के शताब्दी-वर्ष २०१० के पुनीत अवसर पर वर्तमान प्रार्थना-भवन को एक सुन्दर मन्दिर का स्वरूप प्रदान करके उसमें भगवान श्रीरामकृष्ण देव की संगमरमर की प्रतिमा प्रस्थापित की जाय, जहाँ जाति-वर्ग विशेष से रहित सभी सम्प्रदाय के लोग आकर उपासना कर सकें।

मन्दिर के गर्भगृह का शिलान्यास पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी, परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के कर-कमलों द्वारा ११ अप्रैल, २००८ को सम्पन्न हुआ।

इस कार्य में १ करोड़ रुपयों का व्यय अनुमानित है। अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुनीत कार्य को सम्पन्न करने के लिये उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

रामकृष्ण मठ को दिया गया दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अनुसार आयकर मुक्त है। दान विदेशी मुद्रा में भी स्वीकार किये जायेंगे।

कृपया चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद" के नाम पर उपरोक्त पते पर भेजें।

श्रीरामकृष्णदेव सब पर अपनी कृपा का वर्षण करें, यही उनके श्रीचरणों में प्रार्थना है।

प्रभु की सेवा में आपका

स्वामी त्यागात्मानन्द

अध्यक्ष